ISSN : 2582-6360

# विश्व दीप दिव्य संदेश

मासिक शोध पत्रिका

वर्ष 27 | अंक 9-10 विक्रम संवत् 2080 सितम्बर-अक्टूबर 2023 | पृष्ठ 34

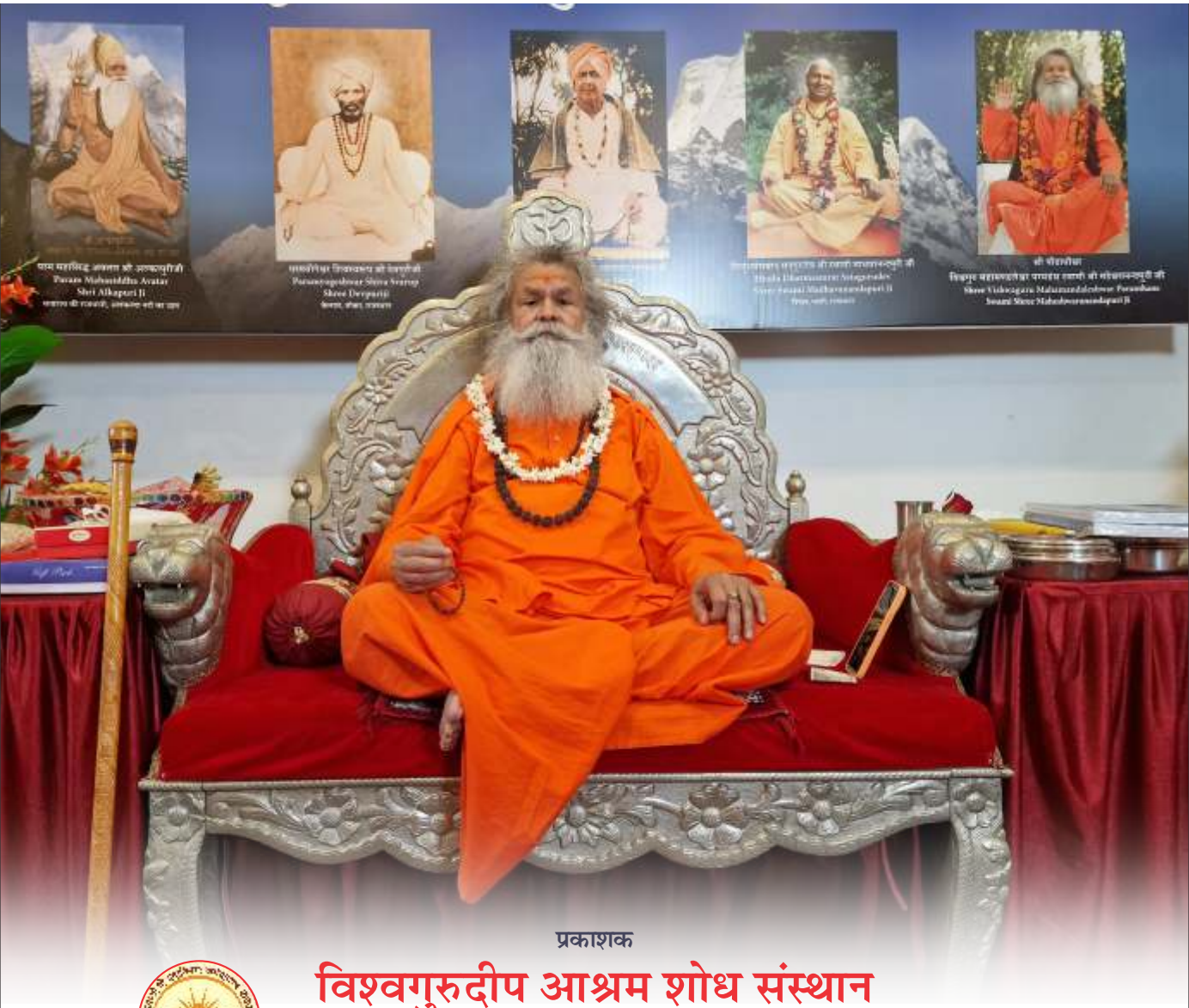

प्रकाशक

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान

(राजस्थान संस्कृत अकादमी एवं

जगद्गुरुरामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध)

कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Narayan

ISSN : 2582-6360

# विश्व दीप दिव्य संदेश

मासिक शोध पत्रिका

वर्ष 27 | अंक 9-10 विक्रम संवत् 2080 सितम्बर-अक्टूबर 2023 | पृष्ठ 58

परामर्शदाता
देवर्षि कलानाथ शास्त्री
प्रो. बनवारीलाल गौड़
प्रो. दयानन्द भार्गव
प्रो. कैलाश चतुर्वेदी
डॉ. शीला डागा
प्रो. (डॉ.) गणेशीलाल सुथार

प्रधान सम्पादक
श्री सोहन लाल गर्ग
श्री एम.एल. गर्ग

सम्पादक
डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

सह-सम्पादक
डॉ. रामदेव साहू
डॉ. रघुवीर प्रसाद शर्मा
तिबोर कोकेनी
श्रीमती अन्या वुकादिन
कपिल अग्रवाल
मारियो ब्रूमेट

- प्रमुख संरक्षक -
परम महासिद्ध अवतार श्री अलखपुरी जी
परम योगेश्वर स्वामी श्री देवपुरी जी

- प्रेरणास्त्रोत -
भगवान् श्री दीपनारायण महाप्रभुजी

- संस्थापक -
परमहंस स्वामी श्री माधवानन्द जी

- संरक्षक -
विश्वगुरु महामण्डलेश्वर परमहंस
श्री स्वामी महेश्वरानन्दपुरीजी

- प्रबन्ध सम्पादक -
महामण्डलेश्वर स्वामी ज्ञानेश्वर पुरी

प्रकाशक

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान

(राजस्थान संस्कृत अकादमी एवं जगद्गुरुरामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध)

कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

**Website :** vgda.in | **Youtube :** www.youtube.com/c/vishwagurudeepashram | **E-mail :** jaipur@yogaindailylife.org

Sponsored by : **Narayan D.O.O. - narayanfoods.com**

# अनुक्रमणिका


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | सम्पादकीय | डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा | 3 |
| 2. | YOGA SUTRAS OF PATANJALI | Swami Maheshwaranandapuri | 4 |
| 3. | Depression and its possible support with Yoga in Daily Life exercises | Tibor Kokeny | 8 |
| 4. | संस्कृत भाषा की विशिष्टता | देवर्षि कलानाथ शास्त्री | 11 |
| 5. | पितृभ्यः पिण्डदः स्यात् | डॉ. विश्वावसु गौड<br>प्रो. वैद्य बनवारीलाल गौड | 15 |
| 6. | अग्निवंशवर्णन | देवेन्द्र सिंह मौचाल | 23 |
| 7. | वन्दे वाणी विनायकौ | डॉ. रामदेव साहू | 34 |
| 8. | राजतरङ्गिणी का साहित्यिक महत्त्व | डॉ. तारेश कुमार शर्मा | 38 |
| 9. | राधाकृष्ण के अनन्य भक्त नागरीदासजी | गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' | 47 |
| 10. | स्वस्थ जीवन का आधार योग | डॉ. मनीषा शर्मा | 51 |
| 11. | राष्ट्रोपनिषत् | डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर | 54 |


विश्वदीप दिव्य संदेश पत्रिका का वार्षिक सदस्यता शुल्क **800/- रूपये**

**खाता संख्या : 5013053111**

**IFS Code : KKBK0003541**

मुद्रण : **कन्ट्रोल पी**, जयपुर - मो. : 9549666600

# सम्पादकीय

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित मासिक शोधपत्रिका का वर्ष 2023 का नवम-दशम अंक आपके करकमलों में अर्पित करते हुए अत्यधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। भारतीय धर्म-संस्कृति के शोधलेखों का यह संग्रह विद्वानों द्वारा सराहा जा रहा है। विद्वानों द्वारा नियमित भेजे जा रहे शोधलेख हमारा मनोबल बढ़ा रहे हैं व पत्रिका के महत्त्व को भी आलोकित कर रहे हैं। पूर्व अंकों में सभी उच्चस्तरीय विद्वानों के लेख प्रकाशित हुए हैं।

इसमें सर्वप्रथम महामण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानन्दपुरीजी द्वारा लिखित YOGA SUTRAS OF PATANJALI शोध लेख में पातंजलयोगसूत्र के प्रतिपाद्य की आधुनिक सन्दर्भ में उपयोगिता दर्शायी गयी है। तत्पश्चात् तिबोर कोकेनी द्वारा लिखित Depression and its possible support with Yoga in Daily Life exercises शोध लेख में योग के माध्यम से मानसिक अवसाद को दूर करने उपाय बतलाये गये हैं। तत्पश्चात् देवर्षि कलानाथ शास्त्री द्वारा लिखित 'संस्कृत भाषा की विशिष्टता' लेख में संस्कृत भाषा का महत्त्व बताते हुये भाषाशास्त्र की दृष्टि से संस्कृत की वैज्ञानिकता को प्रकाशित किया गया है। तत्पश्चात् डॉ. विश्वावसु गौड एवं प्रो. वैद्य बनवारीलाल गौड द्वारा लिखित 'पितृभ्यः पिण्डदः स्यात्' शोध लेख में श्राद्ध के आयुर्वेदीय महत्त्व को मूल्यांकित गया है। इसी क्रम में देवेन्द्र सिंह मौचानी द्वारा लिखित 'अग्निवंशवर्णन' लेख में अग्निवंश के विस्तार पर पौराणिक प्रमाणों का उपस्थापन किया गया है। तत्पश्चात डॉ. रामदेव साहू द्वारा लिखित 'वन्दे वाणी विनायकौ' शोधलेख में गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस के मंगलाचरण के प्रथम पद्य की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। तत्पश्चात् डॉ. तारेश कुमार शर्मा द्वारा लिखित 'राजतरङ्गिणी का साहित्यिक महत्त्व' शोध लेख में राजतरङ्गिणी की ऐतिहासिकता के साथ-साथ लेखक के कवित्व का शास्त्रीय मूल्यांकन किया गया है। तत्पश्चात् गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' द्वारा लिखित 'राधाकृष्ण के अनन्य भक्त नागरीदास' लेख में संत नागरीदास की कृष्ण भक्ति का प्रस्तुतीकरण किया गया है। इसी क्रम में डॉ. मनीषा शर्मा द्वारा लिखित 'स्वस्थ जीवन का आधार योग' लेख में योग के माध्यम से स्वास्थ्य की उपलब्धि एवं आयुष्य की वृद्धि को प्रतिपादित किया गया है। अन्त में स्व. डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर के 'राष्ट्रोपनिषत्' के कतिपय पद्य प्रकाशित किये गये हैं, जो गुरुशिष्यपरम्परा के गौरव को प्रदर्शित करने के साथ साथ आत्मचिन्तन की प्रेरणा प्रदान करने वाले हैं।

आशा है, सुधी पाठक इन्हें रुचिपूर्वक हृदयंगम करने में अपना उत्साह पूर्ववत् बनाये रखेंगे।

शुभकामनाओं सहित....

**-डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा**

# YOGA SUTRAS OF PATANJALI

## A Guide to Self-knowledge

**Mahamandleshwar Paramhans**
**Swami Maheshwaranandapuri**

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

**52. tataḥ kṣīyate prakāśa-āvaraṇam**

*tata – from there*
*kṣīyate – is removed, comes off*
*prakāśa – shine, light*
*āvaraṇa – veil*

**As a result, the veil that covers the light is lifted.**

Through the complete turning of the consciousness towards the Supreme Self, the accumulated *karmas* and *samskāras* (imprints) are gradually dissolved. This lifts the veil of ignorance that has veiled the light of the *ātma*. The darkness of ignorance, which lies like a thick, impenetrable curtain over our consciousness, is the cause of all our sufferings, problems and misguidedness. When this curtain is lifted, we realise the divine radiance within that shines like millions of suns. In this process of enlightenment, we behold and receive the light of divine knowledge.

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

**53. dhāraṇāsu ca yogyatā manasaḥ**

*dhāraṇā – concentration*
*ca – and*
*yogya – capable, fit*
*manas – mind*

**Then the mind becomes capable of concentration.**

DHĀRANĀ – concentration means directing thoughts and feelings to only one object for a long time. To keep the consciousness at the level of *dhāranā* is not easy. To focus on one object for three or five seconds already requires great power of concentration and is beyond the capacity of most people. Even trying to focus the mind on one object raises countless *vrittis* and "inner dialogues" that disturb and distract us.

One of the most effective techniques for developing the ability to concentrate is TRATAKA (dot or candle meditation).

In the *Hatha* yoga technique*, Trātaka,* one gazes for 2-3 minutes at a black dot or into a candle flame and then, with closed eyes, observes the image of the object appearing inside behind the forehead. This is a very good way to test your ability to concentrate: how many seconds or minutes can you visualise the dot or the candle flame with closed eyes? That is how long you are able to concentrate.

Another technique is SAHAJA SHVĀSA. This is observing one's own natural breathing process without influencing it: "I know I am breathing in – I know I am breathing out. I feel the body expanding during inhalation and contracting during exhalation."

Breath practice is the best method to develop or increase the ability to concentrate. Since the breath and the mind are closely connected and interact, by controlling and regulating the breath we gradually gain more and more control over the mind. This enables us to concentrate on a specific goal or object at any time we wish.

The various techniques of imagination and the images used in concentration and meditation exercises are mainly for the purpose of distracting the mind from restless thoughts and worries and making it positive and calm. Therefore, we choose beautiful and soothing images – a tree, a lake or a flower, the sunrise or sunset, etc. But these visualisations are not yet concentration and meditation; they only serve to occupy the mind.

What does a mother do when her child is restless and cries? She gives the child a toy to keep them quiet so that she can work in peace. Thus, we give the mind various images and ideas as "toys" to calm the stream of thoughts. But once the state of true concentration and meditation is reached, we no longer need such means.

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

**54. sva-viṣaya-asaṃprayoge cittasya-svarūpa-anukāra iva-indriyāṇāṃ pratyāhāraḥ**

*sva – self, own*
*viṣaya – object, subject*
*asaṃprayoga – separation*
*citta – consciousness*
*svarūpa – true form, being*
*anukāra – alignment*
*iva – in a sense, as if*
*indriya – senses*
*pratyāhāra – withdrawal*

**When the sense organs withdraw from external objects and turn inward, this is called *pratyāhāra.***

PRATYĀHĀRA means to eliminate external and internal disturbances and the wandering of thoughts by withdrawing the senses. Once the sensory impressions in the mind no longer cause restlessness and distraction, the consciousness can detach from the external world and center in the inner self. *Pratyāhāra* is the ability to gather oneself inwardly at any time and instantaneously and to shut oneself off from the outer world.

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्॥ ५५॥

**55. tataḥ paramā vaśyatendriyāṇām**

*tata – from there*
*paramā – highest(r)*
*vaśyatā – obedience, being under control*
*indriya – senses*

**Thus, the complete mastery of the senses is attained.**

By being able to turn the senses and mind outward or withdraw them inward at will – just as a turtle can retract its head and limbs under its shell or extend them outward at any time – the yogi has brought them under their control and is no longer dominated and controlled by them.

These described exercises of body, breath and mind control are to be practiced daily. Each stage requires the practice and mastery of the previous one. Without regular yoga-body exercises, the deep and calm breathing of "yoga-full-breathing", which is the preparation for the yoga-breathing exercise (*prānāyāma*), is not established. If we neglect *prānāyāma*, we cannot reach the stage of control of the senses and mind (*pratyāhāra*). If we cannot turn the mind inward, concentration on an object (*dhāranā*) cannot succeed, and neither can meditation (*dhyāna*).

Therefore, it is recommended that in the daily practice session, āsanas, *prānāyāma* and relaxation should always be done first, followed by concentration and meditation techniques. However, if you practice in the morning, shortly after getting up, you can also start with meditation, because the mind is still calm from the relaxation of sleep.

Through the principles and exercises that Patanjali explains in the *Sādhana-Pāda,* the mind is purified and strengthened – provided, of course, that they have been observed and practiced. Now the consciousness can further unfold to the higher and highest consciousness. In time and with continued practice, the yogi will reap the fruits of their *sādhana*, which Patanjali describes in the next chapters of the *Yoga Sūtras – Vibhūti-Pāda* and *Kaivalya-Pāda.*

# Depression and its possible support with Yoga in Daily Life exercises

**Tibor Kokeny**

Depression is a prevalent mental health condition affecting millions of people worldwide. It is characterized by persistent feelings of sadness, loss of interest or pleasure in activities, changes in appetite or sleep patterns, fatigue, and difficulty concentrating. While depression can be debilitating, there are various treatment approaches available, and one promising avenue is the integration of yoga exercises as a supportive measure.

Yoga in Daily Life System by Vishwaguru Paramhans Swami Maheshwaranandaji combines physical postures, controlled breathing, and meditation techniques to promote holistic well-being. When used as a complement to traditional therapies or as a standalone practice, yoga exercises have shown significant potential in alleviating depression symptoms and improving mental health.

Several aspects of yoga contribute to its effectiveness in supporting those with depression. Firstly, physical postures or asanas enhance flexibility and release tension stored in the body. This helps reduce physical discomfort and allows individuals to experience a sense of relaxation, easing the burden of depression. Additionally, engaging in yoga increases the production of endorphins and other neurotransmitters, fostering feelings of joy and contentment. These findings have been summarised in Nanthakumar's 2020 summary article.

Breathing exercises, known as pranayama, play a pivotal role in regulating the autonomic nervous system. Slow, deep breathing activates the parasympathetic nervous

system, which counteracts the "fight-or-flight" response, reducing stress and anxiety associated with depression. Nitric oxide (NO) is released in the nasal pathway. During inhalation through the nose nitric oxide follows the airstream to the lungs. As Abman states in the Handbook of Experimental Pharmacology NO (nitric oxide) increases arterial oxygen tension and reduces vascular resistance in the lungs. Slow yogic breathing has a remarkable impact on the production of NO (nitric oxide), facilitating the creation of new red blood cells. By enhancing blood flow and oxygen delivery, NO promotes the release of erythropoietin, a hormone that stimulates red blood cell production, optimizing cardiovascular health and overall vitality. In this way nitric oxide helps increase energy levels, a key problem in depression.

Yoga Nidra, a form of guided meditation and deep relaxation, holds immense potential in influencing depression positively. By reducing stress, promoting better sleep, and fostering self-awareness, it empowers individuals to manage their emotions, alleviate depressive symptoms, and enhance overall mental well-being.

Meditation is another crucial aspect of yoga that supports mental health. By practicing mindfulness and focusing on the present moment, individuals can break free from negative thought patterns, cultivating self-awareness and emotional resilience. Through meditation, individuals learn to accept their thoughts and feelings without judgment, which is vital in coping with depression. Through Self-Inquiry Meditation we can gradually learn to detach ourselves from our ingrained coping patterns and personality misconceptions while in a state of contemplation. The Yoga in Daily Life System's Self-Inquiry Meditation technique has helped many people to get rid of depression and burnout. A publicly known case is the burnout treatment of Hungarian national handball player Noémi Háfra, which quickly helped her return to competitive sports.

In conclusion, depression is a complex mental health condition that demands multifaceted support. While conventional treatments like therapy and sometimes medication remain fundamental, incorporating Yoga in Daily Life exercises can be a

valuable complementary approach. Yoga's physical postures, breathing exercises, yoga nidra, meditation, and sense of community contribute to reducing stress, enhancing self-awareness, and fostering emotional well-being. By embracing this practice, individuals battling depression may find a path towards healing and reclaiming a sense of balance and joy in their lives.

**References**

Abman, S.H. (2013). Inhaled Nitric Oxide for the Treatment of Pulmonary Arterial Hypertension. In: Humbert, M., Evgenov, O., Stasch, JP. (eds) Pharmacotherapy of Pulmonary Hypertension. Handbook of Experimental Pharmacology, vol 218. Springer, Berlin, Heidelberg. https://doi.org/10.1007/978-3-642-38664-0_11

Nanthakumar, C. (2020), "Yoga for anxiety and depression – a literature review", The Journal of Mental Health Training, Education and Practice, Vol. 15 No. 3, pp. 157-169. https://doi.org/10.1108/JMHTEP-09-2019-0050

Burnout treatment for Noémi Háfra:
https://magyarnemzet.hu/sport/2022/03/hafra-noemi-a-kieges-hataran-alltam-es-panikbetegsegem-volt

# संस्कृत भाषा की विशिष्टता

**देवर्षि कलानाथ शास्त्री**

**(राष्ट्रपति सम्मानित), प्रधान सम्पादक** ''भारती''संस्कृत मासिक
**पीठाचार्य, भाषामीमांसा एवं शास्त्रशोध पीठ** - विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर
**पूर्व अध्यक्ष** - राजस्थान संस्कृत अकादमी
**आधुनिक संस्कृत पीठ** - जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
**पूर्व निदेशक** - संस्कृत शिक्षा एवं भाषा विभाग, राजस्थान सरकार
**सदस्य** - संस्कृत आयोग, भारत सरकार

भारत की संस्कृति की निधिरक्षिका, समस्त भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा के प्रति देश में जो एक विशिष्ट सम्मान है उसका सभी विश्व के किसी भी देश में किसी भाषा के मामले में नहीं मिल सकता। वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, दर्शन, विज्ञान, व्याकरण, आयुर्वेद, काव्य, नाटक आदि अमूल्य वाङ्मय जो इस भाषा में समाहित है, उसकी प्रशंसा तो विश्व के सभी विद्वानों ने की है। इसलिए जिस भाषा में वह वाङ्मय निबद्ध है उसका आदर होना स्वाभाविक है, किन्तु संस्कृत में अपने आप में भाषा के रूप में जो विशेषताएं हैं वे भी इस विश्व की एक अनुपम भाषा का दर्जा दे देती है। संस्कृत की इन सभी विशेषताओं का आकलन किया जाए तो भारत में ही नहीं विश्व में इसकी विशिष्ट स्थिति का अनुमान सहज ही हो सकता है।

भाषा की दृष्टि से संस्कृत की विशेषता यह है कि यह विश्व की उन प्राचीनतम भाषाओं में से एक है जो कम से कम पांच हजार वर्ष पूर्व की है और आज जिनमें से संस्कृत के अतिरिक्त सभी का स्वरूप इतना बदल गया है कि किसी के प्राचीन ग्रन्थों को आज का विद्वान् पढ़ और समझ नहीं सकता। संस्कृत एक मात्र ऐसी भाषा है जिसका मूल स्वरूप और व्याकरणीय ढाँचा लगभग पांच हजार वर्षों से वैसा ही है। आज से डेढ़ दो सौ वर्ष पूर्व यूरोप के भाषा वैज्ञानिकों के शोधों से यह ज्ञात हुआ था, कि आज विश्व में प्रचलित अधिकांश भाषाओं की मूलभूत एक प्राचीन भाषा थी जिससे फारसी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाएं विकसित हुई हैं। यह मूल भाषा आज अज्ञात है, क्योंकि हजारों वर्षों में इससे निकली भाषाएं इतनी परिवर्तित हो गयीं कि यह अन्दाजा भी नहीं लगाया जा सकता कि वह कैसी होगी। इन भाषाओं के परिवार का नमकरण दो शती पूर्व यूरोपीय भाषाशास्त्रियों

द्वारा इंडोयूरोपीयन या भारोपीय भाषा परिवार किया गया था। इसकी प्राचीन भाषाएं आज कहीं नहीं बोली जाती जेंद, प्राचीन ग्रीक, प्राचीन लैटिन आदि भाषाएं लुप्त हो गयीं क्योंकि उनसे निकली आधुनिक भाषाएं उनके मूल ढांचे से बिल्कुल अलग हो गयीं। संस्कृत एकमात्र ऐसी भाषा है जिसका अधिकांश मूल रूप यों कि यों आज भी सुरक्षित है।

इसका अधिकतर श्रेय तो पाणिनि को जाता है, जिसने आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व इतना उत्तम व्याकरण बनाया, कि उसका अनुसरण कर शुद्ध भाषा लिखना सारे संस्कृत जगत् ने आवश्यक मान लिया। तबसे इस भाषा का स्वरूप वैसा ही बना है। पाणिनि ने अपने से पूर्व की वैदिक और लौकिक भाषाओं का समन्वय कर यह व्याकरण बनाया था, इसलिए वैदिक भाषा जो कम से कम चार पांच हजार वर्ष पुरानी है, संस्कृत से बिल्कुल मिलती जुलती है। यही कारण है कि हजारों वर्ष पुरानी वैदिक भाषा सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् आदि उसके हजारों वर्ष बाद की पौराणिक भाषा धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः उसके सैकड़ों वर्ष बाद की शंकराचार्य की भाषा अंगं गलितं पलितं मुंडम् और आज लिखी बोली जा रही संस्कृत एक ही भाषा लगती है। विश्व की किसी भी अन्य भाषा की यह स्थिति नहीं रही। तभी तो यह अमर भाषा कही जाती है।

एक उदाहरण ही हमारी इस बात को स्पष्ट करने को पर्याप्त होगा। बहुत पुरानी भारोपीय भाषा में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन होते थे पर आज विश्व की शायद ही कोई भाषा हो जिसमें तीन वचन होते हों। एकवचन और बहुवचन - हिन्दी अंग्रेजी आदि सभी भाषाओं की यही स्थिति है। पहले ग्रीक और लैटिन में भी द्विवचन होता था पर मिडिल ग्रीक और मिडिल लैटिन के समय में हजारों वर्ष पूर्व उसे समाप्त कर केवल दो वचन ही रखे गये- एकवचन और बहुवचन। संस्कृत में आज भी बालकः, बालकौ, बालकाः, पठति पठतः पठन्ति सभी जगह द्विवचन बैठा है। इस प्रकार अन्य सभी भाषाओं में जहां पुराने भाषिक ढांचे में परिवर्तन हो गये वहां संस्कृत में वही प्राचीनतम मूल रूप लगभग ज्यों की त्यों सुरक्षित है।

तभी तो प्राचीनतम भाषाओं के स्वरूप के अध्ययन के लिए विश्व में सर्वत्र भाषाशास्त्री संस्कृत अध्ययन को अनिवार्य मानते हैं क्योंकि यह आज भी सुरक्षित है। यही इसकी सर्वप्रमुख विशेषता है कि यह प्राचीनतम रूप में आज भी सुरक्षित है। यह पुरातन होते हुए भी चिरनूतन है। आज भी इसमें कविता, कहानी, उपन्यास, पत्र सभी लिखे जाते हैं, पत्रिकाएं निकलती हैं, समाचार पत्र निकलते हैं, कविसम्मेलन होते हैं, शास्त्रार्थ होते हैं।

आकशवाणी से दिन में दो बार और दूरदर्शन से सप्ताह में एक बार समाचार प्रसारित होते हैं। शुद्ध संस्कृत में बनी पूर्णकालिक फीचर फिल्म आदिशंकराचार्य लोकप्रिय भी हुई है और भरपूर पुरस्कृत भी। दूरदर्शन पर संस्कृत धरावाहिक के रूप में मृच्छकटिक आदि नाटक व कथानक प्रसारित हो चुके हैं। इस प्रकार यह काल की सीमाओं को लांघ कर आने वाली अमर भाषा है।

यह देश की सीमाओं को भी लांघ गयी है। भारत के प्रत्येक कोने में संस्कृत में ही सारे धार्मिक कार्य होते हैं। कर्णाटक का एक गांव मत्तूर तो प्रत्येक कार्य में संस्कृत का प्रयोग कर संस्कृतभाषी ही बन गया है। विश्व के अन्य देशों में भी संस्कृत उसी पाणिनीय ढांचे में पढ़ी लिखी जाती है।

इसकी अन्य विशेषता इसमें अन्तर्निहित शब्दनिर्माण की भाषिक क्षमता। पाणिनि की कृपा से इसमें धातु-प्रत्यय उपसर्ग आदि लगा कर शब्द बनाने की जो प्रक्रिया स्थापित हुई, उसके कारण इसका शब्द भंडार अरबों खरबों तक ही नहीं जाता, वस्तुतः असंख्य और अनन्त है। आज भी उस प्रक्रिया से करोड़ों शब्द बनाये जा सकते हैं। तभी तो नवीनतम अभिव्यक्तियों के लिए शब्द आवश्यक होने पर डॉ. रघुवीर तथा अन्य विद्वानों की सहायता से भारत सरकार के शब्दावली आयोग ने संस्कृत का आधार लेकर आसानी से पांच लाख पारिभाषिक शब्द संकलित कर लिए थे जिनके आधार पर आज हिन्दी में ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं में भी विज्ञान, मानविकी आदि की शिक्षा दी जा रही है।

समस्त भारतीय भाषाओं में संस्कृत की यह शब्दावली ली गयी है। यही नहीं, संस्कृत वाङ्मय की जो सांस्कृतिक थाती है उसका प्रभाव समस्त भारतीय भाषाओं पर है। इन्द्र, विष्णु आदि देवों की उपासना, राम, कृष्ण और पांडवों की कथा, शंकराचार्य और वैष्णवाचार्यों के उपदेश सारी भारतीय भाषाओं के साहित्य पर छाये हुए हैं। तभी यह समस्त भारतीय भाषाओं की जननी कही जाती है। इस दृष्टि से संस्कृत पूरे देश की सांस्कृतिक एकता की अविच्छिन्न कड़ी है। तभी तो इसके प्रति सारे देश की अविचल श्रद्धा है।

संस्कृत में निहित वेद, वेदांग, दर्शनशास्त्र आदि का अनुशीलन तो सारे देश में अनुवादों के माध्यम से हुआ ही है। संस्कृत के अमर कवि कालिदास, भास, भवभूति, माघ आदि का प्रभाव भी भारत की समस्त भाषाओं के साहित्य पर स्पष्ट देखा जा सकता है। विश्व का कौन ऐसा साक्षर होगा, जो भारत के कालिदास का नाम न सुन चुका

हो और इसे कालिदास का देश कहने पर न पहचान पाता हो। यूरोप और इंग्लैंड के विद्वान् जब भारत के संपर्क में आए तो ताजमहल और तख्ते -ताऊस से जितने प्रभावित नहीं हुए, उससे अधिक संस्कृत और इसके साहित्य के दीवाने हो गए। जर्मन कवि गेटे के बारे में तो कहा जाता है, कि वह अभिज्ञानशाकुन्तलम् का अनुवाद पढ़ कर नाच उठा था।

गीता से तो विश्व के सारे दार्शनिक ही नहीं आइन्स्टीन जैसे वैज्ञानिक भी प्रभावित थे।

आज विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों में संस्कृत पढ़ायी जाती है। अनेक प्राच्य शोध संस्थाएँ संस्कृत भाषा और वाङ्मय के अनुसंधान का कार्य कर रही हैं। अनेक अन्ताराष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलन / संस्थान कार्यरत हैं। जर्मनी, इंगलैंड, अमेरिका, रूस आदि के विद्वानों ने भी संस्कृत वाङ्मय के अनुवाद, अनुसंधान, प्रकाशन आदि का उत्कृष्ट कार्य किया है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में संस्कृत के पुनर्जागरण का दौर मुद्रणालयों के और पत्रकारिता के उद्विकास के फलस्वरूप आया। संस्कृत को देख कर ही भाषाशास्त्रियों में तुलनात्मक भाषा विज्ञान की शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। भारत के मनीषी तो सदियों से संस्कृत के भक्त और अनुशीलनकर्ता रहे ही हैं, पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी संस्कृत की महत्ता पर इस प्रकार की अभिव्यक्तियाँ दी हैं, जिन्हें पढ़ कर हमारे अपने लोग स्वयं की इस थाती का महत्त्व समझने लगे हैं। प्रो. डब्लू.ए. विल्सन नामक पाश्चात्य विद्वान् ने संस्कृत की अमरता के बारे में संस्कृत के जो श्लोक लिखे थे, उनमें से यह एक पद्य तो संस्कृत विद्वानों के कंठ में बस गया था, जिसमें विल्सन ने कहा है, कि संस्कृत अमर है जब तक भारत रहेगा, विंध्य और हिमालय रहेगा, गंगा और गोदावरी रहेगी, संस्कृत कायम रहेगी।

**यावद् भारतवर्षं स्याद् यावद् विन्ध्यहिमाचलौ।**
**यावद् गंगा च गोदा च तावदेव हि संस्कृतम्॥**

यह पद्य अयोध्या से निकलने वाली संस्कृत पत्रिका संस्कृतम् के प्रत्येक अंक में आदर्शवाक्य के रूप में छपता था।

# पितृभ्य : पिण्डद : स्यात्

**डॉ. विश्वावसु गौड,**
बी.ए.एम. एस. (आयुर्वेदाचार्य)
आयुर्वेद-वाचस्पति (एम.डी. आयुर्वेद) असिस्टेंट प्रोफेसर, स्वस्थवृत्त विभाग
एम.जे.एफ. आयुर्वेद महाविद्यालय हाड़ोता, चौमूँ, जयपुर (राजस्थान)
एवं
**(म.म. राष्ट्रपति-सम्मानित) प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़**
पूर्व निदेशक - राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान जयपुर
पूर्व कुलपति - डॉ. एस.आर. राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय जोधपुर

भारतवर्ष में अपने पूर्वजों को श्रद्धापूर्वक स्मरण करने की परम्परा प्राचीन काल से ही श्राद्ध के रूप में प्रचलित है ऐसा प्राचीन ग्रन्थों से, पुराणों से एवं स्मृतियों से सङ्केतित होता है। आयुर्वेद में भी प्राचीन संहिताओं में श्राद्ध का स्वरूप सङ्केतित है। यद्यपि चरकसंहिता एवं सुश्रुतसंहिता में श्राद्ध शब्द का उल्लेख एवं इसमें की जाने वाली प्रक्रियाओं का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है लेकिन पितरों को नियमित रूप से विधिपूर्वक पिण्डदान करने का स्पष्ट निर्देश है। इसके अतिरिक्त पितरों के रुष्ट होने या क्रुद्ध होने से मानसिक विकृतियों की उत्पत्ति मानी गई है एवं उपहार, प्रायश्चित्त, देव- गो-ब्राह्मणपूजा एवं यथोचित रूप से उपयुक्त व्यक्ति को भोजन करवाने से मानसिक तुष्टि की प्राप्ति होने के साथ-साथ देवताओं एवं पितरों इत्यादि के प्रसन्न होने का सङ्केत भी है तथा इससे मानसिक विकृतियों की निवृत्ति भी होती है। आयुर्वेद के ग्रन्थ होने के कारण इनमें इतना साङ्केतिक विवरण होना ही पर्याप्त है|

आयुर्वेदीय संहिताओं में प्रेतयोनि को भी स्वीकार किया है और इसके बाद की स्थिति ही पितरों की स्थिति मानी गई है। प्रेत का स्वरूप श्रेष्ठ नहीं माना गया, लेकिन पितरों को पूज्य माने जाने के पर्याप्त उल्लेख आयुर्वेदीय संहिताओं में है|

चरकसंहिता में सद्वृत्त के विभिन्न प्रकार निर्दिष्ट किए गए हैं, उनमें भोजनसम्बन्धी सद्वृत्त का निर्देश करते समय विस्तारपूर्वक अनेक प्रक्रियाओं, विधियों, उपक्रमों और कर्मों का निर्देश किया है। उनमें देवताओं को भोग लगाने के साथ-साथ पितरों को पिण्डदान करने का भी निर्देश है इसमें महर्षि चरक कहते हैं कि-..... पितृभ्यो नादत्त्वा-----भक्षयेत् (पितृभ्यः अदत्त्वा न भक्षयेत्)। यह सम्पूर्ण प्रसङ्ग निम्नानुसार यहाँ उद्धृत किया जा रहा है, यथा-

**नारत्नपाणिर्नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो नानिरूप्य पितृभ्यो नादत्त्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो नापुण्यगन्धो नामाली नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो नाशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमना नाभक्ताशिष्टाशुचिक्षुधितपरिचरो न पात्रीष्वमेध्यासु नादेशे नाकाले नाकीर्णे नादत्त्वाऽग्रमग्नये नाप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैर्न मन्त्रैरनभिमन्त्रितं न कुत्सयन्न कुत्सितं न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत, न पर्युषितमन्यत्र मांसहरितकशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः, नाशेषभुक् स्यादन्यत्र दधिमधुलवणसक्तुसर्पिभ्यः, न नक्तं दधि भुञ्जीत, न सक्तूनेकानश्नीयान्न निशि न भुक्त्वा न बहून्न द्विर्नोदकान्तरितात्, न छित्त्वा द्विजैर्भक्षयेत्||** (चरक सूत्र 8/20)

इतना अवश्य है कि चरकसंहिता एवं सुश्रुतसंहिता में श्राद्ध शब्द का उल्लेख नहीं है लेकिन उनके व्याख्याकारों चक्रपाणि एवं डल्हण एवं अरुण दत्त आदि ने श्राद्ध का उल्लेख किया है, परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अष्टाङ्गहृदय तथा अष्टाङ्गसंग्रह में श्राद्ध शब्द का उल्लेख है, यद्यपि उसे अन्य प्रसङ्ग में प्रयुक्त किया गया है लेकिन उसका भाव दान इत्यादि करने के अर्थ में ही गृहीत होता है। विभिन्न पुराणों में श्राद्ध शब्द का एवं उसकी विधि का भी उल्लेख है। स्कन्दपुराण में इस शब्द का विश्लेषणपरक उल्लेख उपलब्ध है, अन्य पुराणों में भी किसी न किसी रूप में श्राद्ध का उल्लेख है। ब्रह्मपुराण में भी विधिपूर्वक श्राद्ध करने का उल्लेख है, यथा-

**देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत्।**
**पितॄनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाहृतम्॥ (ब्रह्म पुराण)**

आयुर्वेद में पितरों का सम्मानपूर्वक उल्लेख है और सर्वत्र ही इनका सम्बोधन बहुवचन में हुआ है तथा इनकी पूजा-अर्चना एवं उपहार का अनेक स्थलों पर स्पष्टतः उल्लेख या सङ्केत है। यह उनके प्रति श्रद्धा का द्योतक है।

चक्रपाणि ने नान्दीमुख श्राद्ध का उल्लेख किया है , चरकसंहिता में गर्भिणी स्त्री के सूतिकागार में प्रवेश करने के बाद तथा प्रसव से पूर्व शान्तिहोम इत्यादि करने का विधान है, वहाँ कहा गया है कि- **"नान्दीमुखानि च फलानीष्टानि दत्त्वोदकपूर्वमासनस्थेभ्योऽभिवाद्य पुनराचम्य स्वस्ति वाचयेत् ।"** इसका विश्लेषण करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि-**शान्तिं कृत्वेति शान्तिहोमं कृत्वा| नान्दीमुखानि च फलानि नान्दीमुखश्राद्धाय हितानि फलानि; किंवा नान्दी मुरजः, तन्मुखाकृतीनि फलानि खर्जूरादीनि| पुण्याहशब्दो मङ्गलशब्दः| प्रदक्षिणं यथा भवति तथा गोब्राह्मणं समनुवर्तमाना|** (चरक. शारीर 8/35 चक्रपाणि)

सुश्रुतसंहिता में अन्नपानविधि के वर्णन के क्रम में विभिन्न प्रकार के शाक निर्दिष्ट किए गए हैं, उनमें कालशाक भी है जिसकी व्याख्या करते हुए डल्हण कहते हैं कि कालशाक श्राद्ध के लिए योग्य शाक है यथा- **कालशाकं कालियाशाकं श्राद्धार्हम्|** (सुश्रुत. सूत्रस्थान. 46/ 272 पर डल्हण )। चक्रपाणि 11वीं शताब्दी के व्याख्याकार हैं एवं डल्हण 12वीं शताब्दी के व्याख्याकार हैं इससे इस बात का सङ्केत मिलता है कि 11वीं शताब्दी के पहले से ही श्राद्ध का परम्परा के रूप में प्रचलन था | इसके पहले भी नवमी शताब्दी के व्याख्याकार जेज्जट ने पितरों की मुक्ति के प्रसङ्ग का उल्लेख किया है जिसमें जरत्कारु के कथानक का सङ्केत है, वे कहते हैं कि-

व्याख्याकार जेज्जट ने पुत्र के आयतन (हेतु) वाजीकरण में पुत्र एवं पुत्री दोनों को ही स्वीकृत किया है, अतः पुत्र शब्द यहाँ साङ्केतिक है जिसका तात्पर्य केवल सन्तति उत्पादन ही (पुत्र एवं पुत्री दोनों ही) मानना चाहिए। जेज्जट कहते हैं कि-

**पुत्रस्यायतनं वाजीकरणमित्यनेकान्तमुपयुक्तवाजीकरणेभ्योऽपि स्त्र्युत्पत्तेः । अत्रापि पूर्व एव समाधिः। अथवा वाजीकरणेन शुक्रवृद्धिस्तद्वृद्ध्या च पुत्रोत्पादः। पुत्रप्राधान्याच्चैवमभिधानं दुहितृप्राप्तावपि धर्मादयो भवन्ति। तथा हि स्मरणं वचो- " नाग्निचिन्नरकं यायात् न सत्पुत्री न कुत्रचित्। (सत्यवादी तथा) जन्तुर्योऽद्भिः कन्यां प्रयच्छति ॥ किञ्च पुत्रिकापुत्रा अप्यभ्युदयहेतवः ।" तथा ह्यैतिह्यं "ययातिः किल स्वर्गात् परिच्युतः पुत्रिकापुत्रैरष्टकादिभिः स्वर्ग एव पुनः प्रापितः" इति । एवं जरत्कारोरेव मे पुत्राः पुत्रिकापुत्रा इति" । तस्माद्गुणवदपत्यलाभाद्धर्मादयः तस्य च पुत्रस्य हेतुर्वाजीकरणमिति तदेवेष्टव्यम्।** (च.चि. 2/3 जेज्जटः)।

हिंदूधर्मग्रन्थों में जरत्कारु की कथा दन्तकथा के रूप में प्रचलित है, इसके सङ्केत महाभारत में, देवीभागवतपुराण में एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण में मिलते हैं। पितरों की मुक्ति के लिए इन्होंने नागराज वासुकी की बहन मनसा से विवाह किया। मनसा का एक नाम जरत्कारु भी था। इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग को केवल साङ्केतिक रूप में संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

जरत्कारु ऋषि बालब्रह्मचारी थे लेकिन अपने पितरों के उद्धार के लिए उन्हें सन्तति उत्पादन के लिए वृद्धावस्था में विवाह करना पड़ा, जिस से विवाह किया वह नागराज वासुकी की बहन थी उसका नाम भी जरत्कारु ही था। यह एक लंबी कथा है पर संक्षेप में इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि जरत्कारु ऋषि भी अपने पितरों की मुक्ति के लिए संतति उत्पादन हेतु विवाह करना चाहते थे और वासुकी नाग भी यह जानते थे की उनकी बहन से उत्पन्न संतति ही उनके (वासुकी के) पितरों की मुक्ति करवा सकती है, अतः वे भी चाहते थे कि किसी श्रेष्ठ ऋषि से उनकी बहन का विवाह संपन्न हो जाए। विवाह सम्पन्न होने के बाद यथासमय उनके एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम आस्तीक रखा गया। जिसने पितृ वंश (पुत्र-पौत्र के रूप में ) एवं मातृवंश (पुत्रिकापुत्र के रूप में) दोनों ही वंशों के पितरों का उद्धार किया। अतः केवल पुत्र से ही नहीं अपितु पुत्री के पुत्र से भी पितरों का उद्धार माना गया है, यह एक ऐतिहासिक पौराणिक कथा है। अतः पुत्र शब्द से पुत्र और पुत्री दोनों का ही ग्रहण करने की परम्परा तथा पुत्री को भी उतना ही महत्त्व देने की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इस प्रसङ्ग से एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन काल से ही पितरों की मुक्ति के लिए अग्रिम सन्तति अपेक्षित मानी गई है। इसके लिए पुत्र शब्द का प्रयोग होता आया है, वस्तुतः यह पुत्र शब्द पुत्र एवं पुत्री दोनों के लिए ही है।

पितरों के अस्तित्व का सीधा प्रभाव मन पर स्वीकार किया गया है। इनके प्रसन्न होने पर मन प्रसन्न रहता है तथा इनके रुष्ट होने पर मन खिन्न एवं विकारग्रस्त हो सकता है। व्यावहारिक रूप से इसे यों भी स्वीकार किया जा सकता है कि पितरों में श्रद्धाभाव प्रकट करने पर मन प्रसन्न रहता है, अतः अपने पूर्वजों को किसी भी रूप में स्मरण करते हुए व्यक्ति भावात्मक रूप से उनसे सर्वदा सम्पृक्त रहता है। उनके गुणात्मक स्वरूप का अनुकरण करने का प्रयत्न करता है तथा उन्हें अग्रिम सन्तति में सङ्क्रान्त करते हुए गौरवान्वित भी होता है। इस तरह के भावात्मक स्वरूप का सर्वदा मन से सम्बद्ध होना स्वाभाविक ही है, श्राद्ध इन भावों को सतत बनाए रखने में योगदान करता है। इन भावों को अभिव्यक्त करने का माध्यम श्राद्ध है।

आयुर्वेदीय संहिताओं में अनेक स्थानों पर पितरों का उल्लेख देव, गुरु, ब्राह्मण एवं सिद्धाचार्य आदि के साथ किया गया है, जो इनके पूज्य होने के स्वरूप को पूर्ण रूप से प्रमाणित करता है। श्रद्धा प्रकट करने के क्रम में पिण्डदान का स्पष्ट निर्देश है। जबकि देव, गो, ब्राह्मण आदि के साथ इनका उल्लेख एवं साथ ही ब्राह्मण इत्यादि को भोजन करवाने का निर्देश विभिन्न प्रसङ्गों में है। अतः श्राद्ध के क्रम में भोजन को भी जोड़ दिया जाना उपयुक्त ही प्रतीत होता है। परम्परागत रूप से देव, पितर इत्यादि की पूजा-अर्चना करना एवं उपहार प्रदान करना श्रेष्ठ माना गया है। इसके साथ-साथ उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करने की एक प्रक्रिया भी निर्दिष्ट प्रतीत होती है। सद्वृत्त के प्रसङ्ग में अनेक उपक्रम एवं कर्म करणीय हैं जिनमें पितरों को पिण्डदान करना भी निहित है। इसे प्रतिदिन किए जाने का निर्देश है, यथा-

**तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत् सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति; तत् सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ! तद्यथा- देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत्, अग्निमुपचरेत्, ओषधीः प्रशस्ता धारयेत्, द्वौ कालावुपस्पृशेत्, मलायनेष्वभीक्ष्णं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात्, त्रिःपक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहारयेत्, नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात्, साधुवेशः, प्रसिद्धकेशः , मूर्धश्रोत्रघ्राणपादतैलनित्यः, धूमपः, पूर्वाभिभाषी, सुमुखः, दुर्गेष्वभ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्पथानां नमस्कर्ता, बलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः, पितृभ्यः पिण्डदः, काले हितमितमधुरार्थवादी, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्ष्युः, फले नेर्ष्युः, निश्चिन्तः, निर्भीकः, ह्रीमान्, धीमान्, महोत्साहः, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः, विनयबुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता , छत्री दण्डी मौली सोपानत्को युगमात्रदृग्विचरेत्, मङ्गलाचारशीलः, कुचेलास्थिकण्टकामेध्यकेशतुषोत्करभस्मकपाल-स्नानबलिभूमीनां परिहर्ता, प्राक् श्रमाद् व्यायामवर्जी स्यात्, सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्, क्रुद्धानामनुनेता, भीतानामाश्वासयिता, दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसन्धः, सामप्रधानः, परपरुषवचनसहिष्णुः, अमर्षघ्नः, प्रशमगुणदर्शी, रागद्वेषहेतूनां हन्ता च||** (चरक सूत्र 8/18)

इस इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग को उल्लिखित करने का एक उद्देश्य यह भी है कि यहाँ बताए गए अनेक कार्य एक दूसरे से सम्बद्ध हैं तथा पितरों के लिए जो पिण्डदान बताया गया है, उसके साथ अनेक करणीय क्रियाएं या विधियाँ भी विभिन्न स्थलों पर सङ्केतित हैं, जिनका सबका समग्र रूप में एक विधि निर्धारित किए जाने जैसा स्वरूप

दृष्टिगत होता है | ऐसा करने पर शरीर एवं मन की पवित्रता, भावप्रवणता, श्रद्धा, निष्ठा आदि के साथ-साथ सामाजिक एवं पारिवारिक संबद्धता भी परिलक्षित होती है।

दिवंगत पूर्वजों के प्रति श्रद्धाभाव प्रकट कर व्यक्ति अपनी सन्तति को स्नेह की एक शृंखला में अनुस्यूत करने का प्रयत्न करता है तथा उनके सामने एक आदर्श भी प्रस्तुत करता है कि देव,गो, ब्राह्मण, गुरु, आचार्य, वृद्ध, असहाय आदि के साथ-साथ अन्य प्राणियों एवं वनस्पतियों में भी अपना स्नेहभाव एवं श्रद्धाभाव प्रकट कर उनसे अपनी सम्बद्धता को दृढ़ता प्रदान करता है| इन उपक्रमों को करने वाला व्यक्ति सर्वदा परोपकार एवं सत्कर्म करने वाला बनता है, पापकर्म से मन को दूर रखने में इस तरह के कर्म अत्यन्त प्रभावी होते हैं, इसीलिए इसे सद्वृत्त कहा गया है|

सुश्रुतसंहिता में ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की प्रक्रिया में यह स्पष्ट कहा गया है की पितरों के हित के लिए कर्म करने के लिए विवाह की प्रक्रिया पमावश्यक है, वे कहते हैं कि-

**अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति** | (सुश्रुत. शारीर. 10/53)

इसकी व्याख्या में डल्हण कहते हैं कि-

**आवहेत् विदध्यात्| किमर्थमित्याह- पित्र्येत्यादि| पितुर्हितं कर्म पित्र्यं श्राद्धदानादि, धर्मः श्रुतिस्मृतिविहितं यज्ञाद्यनुष्ठानम्, अर्थः सुवर्णादिः, कामः स्वेषु विषयेष्विन्द्रियाणामानुकूल्यतः प्रवृत्तिः, प्रजाः पुत्रपौत्रादयः**| (डल्हण ) इसका तात्पर्य यह है कि विवाह करने के बाद जिस सन्तति का उत्पादन किया जाता है, वह पितरों के हितकर्म श्राद्धदान इत्यादि करके अपने पितृ ऋण से मुक्त होती है|

अष्टाङ्गहृदय में श्लेष्मप्रकृति के वर्णन क्रम में श्राद्ध शब्द का प्रयोग हुआ है, यथा –

**श्राद्धो गम्भीरः स्थूललक्षः क्षमावा-**
**नार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः||**
**ऋजुर्विपश्चित्सुभगः सुलज्जो| (अष्टाङ्गहृदय. शारीर.3/101-102)**

यहाँ प्रयुक्त श्राद्ध शब्द का तात्पर्य दान इत्यादि में श्रद्धावान् होना है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि श्लेष्मप्रकृति वाले व्यक्ति सौम्य, शांत, गंभीर एवं श्राद्ध इत्यादि प्रक्रिया करने वाले होते हैं। इस श्राद्ध शब्द को विश्लेषित करते हुए व्याख्याकार अरुणदत्त कहते हैं कि- **दीर्घदर्शी-भावि कार्यं पश्यति, इदं कुर्वत इदमवश्यं सम्पद्यत इति| वदान्यो-वल्गुभाषी दाता च| श्राद्धो-दानादौ श्रद्धावान्| गम्भीरो-महाचित्तः| स्थूललक्षो-भूरिदाता| क्षमावान्-क्षान्तियुक्तः| आर्यः-सज्जनः| निद्रालुः-बहुनिद्रः| दीर्घसूत्रः-चिरकारी| कृतं जानातीति कृतज्ञः| वैश्वदेवीवृत्तम्| ऋजुः-अकुटिलचित्तः| विपश्चित्-पण्डितः| सुभगो-जनप्रियः|** (अरुणदत्त)

अतः जिसमें सौम्य आदि श्रेष्ठ गुण होंगे वह श्रद्धावान् भी होगा और श्रद्धावान् दान इत्यादि कर्म करेगा ही। श्रद्धावान् का यह स्वरूप बाद में पितृ इत्यादि के लिए किए जाने वाले श्राद्धकर्म के लिए योगरूढ़ हो गया। अष्टाङ्गहृदय छठी शताब्दी का ग्रन्थ है, उसमें आए हुए इस प्रसङ्ग से यह भी स्पष्ट होता है, कि श्राद्ध शब्द दान इत्यादि के रूप में उस समय भी प्रचलित था। दान के क्रम में ही पिण्डदान भी है, जिसे सभी आयुर्वेदीय संहिताओं ने सम्मान के साथ निर्दिष्ट किया है। अतः परम्परागत रूप में श्राद्ध की विधि उपनिषत्-काल में प्रचलित थी, जो कि ईसा के 1500 वर्ष के पहले का काल है | सम्भव है यह इससे भी पहले से प्रचलित था।

अष्टाङ्गहृदय में श्राद्ध शब्द दो स्थानों पर आया है और दोनों स्थानों में ही इसका अर्थ श्रद्धावान् स्वरूप में है। जहां दूसरी बार कल्पसिद्धिस्थान में इसका प्रयोग हुआ है वहां श्राद्ध का अर्थ विभिन्न स्थलों से वनस्पति के रूप में भेषज को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने का क्रम निर्दिष्ट है, यथा-**अथ कल्याणचरितः श्राद्धः शुचिरुपोषितः| गृह्णीयादौषधं सुस्थं स्थितं काले च कल्पयेत्||** (अष्टाङ्गहृदय. कल्पसिद्धिस्थान 6/5)। इसकी व्याख्या करते हुए अरुणदत्त कहते हैं कि-

**श्राद्धः-भेषजहरणं प्रति श्रद्धावान्, तथा शुचिः-स्नानादिना शुद्धः तथोपोषितः-कृतोपवासः, एवंविधमौषधमेवंविधः पुमान् गृह्णीयात्|** (अष्टाङ्गहृदय-कल्पसिद्धिस्थान 6/5 अरुणदत्त)

यहाँ यह भी स्पष्ट कहा गया है कि श्रद्धावान् व्यक्ति स्नान इत्यादि से शुद्ध होकर तथा उपवास किया हुआ होना चाहिए।अतः यह स्वतःसिद्ध है कि वह भेषज के लिए श्राद्ध करे (श्रद्धावान् बने) अथवा पितरों के लिए श्राद्ध

करे (श्रद्धावान् बने) उपर्युक्त विधि से शुद्ध होकर ही करे। जो श्राद्ध करने वाला व्यक्ति हो तो उसे पूर्ण रूप से शारीरिक और मानसिक रूप से शुद्ध होना चाहिए, यह किसी भी रूप में किया जाने वाला श्रेष्ठ विधान है।

अष्टाङ्गसंग्रह में भी श्लेष्मप्रकृति के गुणों का वर्णन करते हुए श्राद्ध शब्द का प्रयोग हुआ है, यथा-

**अल्पव्याहारक्रोधपानाशनेहः, प्राज्यायुर्वित्तो दीर्घदर्शी वदान्यः|**
**श्राद्धो गम्भीरः स्थूललक्षः क्षमावानार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः|** अष्टाङ्गसंग्रह शरीर 8/12

इसके व्याख्याकार इन्दु अपनी शशिलेखा नामक व्याख्या में कहते हैं कि- **श्रद्धा विद्यते यस्य सः श्राद्धः|**(शशिलेखा)। अतः जिस प्रकार से स्कंदपुराण में कहा गया है कि श्रद्धा शब्द से श्राद्ध का प्रचलन हुआ उसी प्रकार से आयुर्वेद के व्याख्याकार भी अपने भाव प्रकट करते हैं। अतः श्राद्ध का स्वरूप प्राचीन है|

इसके अतिरिक्त आयुर्वेदीय संहिताओं एवं अन्य ग्रन्थों में पितरों से सम्बन्धित प्रसङ्ग विभिन्न स्थलों पर पर्याप्त मात्रा में निर्दिष्ट हैं। अतः श्रेष्ठ मनोभावों की अभिव्यक्ति एवं अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धाभाव प्रकट करने की दृष्टि से श्राद्ध करना जीवन में किए जाने वाले श्रेष्ठ कर्मों में से एक है, जो अनेक प्राणियों के पोषण एवं उनके प्रति सद्भाव प्रकट करने के लिए भी व्यक्ति को प्रेरित करता है। नास्तिक भावों की अभिव्यक्ति एवं उन्हें संसिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण हैं, लेकिन इस तरह के तर्क-वितर्क में कुतर्कपरक स्वरूप का अभिनिवेश नहीं किया जाना चाहिए। श्राद्ध को श्रद्धाभाव का एक श्रेष्ठ माध्यम मान कर हिंदूधर्म का अनुयायी सर्वदा एक वर्ष में एक नियत काल में श्राद्ध करता आया है और करता रहेगा। अतः आचार्य चरक के "पितृभ्यः पिण्डदः स्यात्" इस वाक्य को एक निर्देश के रूप में मानकर सर्वदा श्राद्ध करना ही चाहिए, पिण्डदान तो श्राद्ध का प्रधान उपक्रम है|

# अग्निवंशवर्णन

**देवेन्द्र सिंह मौचाल**
जोधपुर

अग्निआदि देव के रूप में सुप्रतिष्ठित हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि वेदवाङ् मय में सर्वाधिक प्राचीन ऋग्वेद में सर्वप्रथम अग्नि की ही स्तुति की गयी है। अग्नि क्षत्रिय वर्ण का प्रतिनिधित्व करते हैं, जैसा कि बृहज्जाबालोपनिषद् में उल्लिखित है, अग्नि के स्वरूप एवं शारीरिक वैशिष्ट्य के वर्णन से स्पष्ट परिज्ञात होता हैः-

**''अग्निराख्यायते रौद्री घोरा या तैजसी तनूः।**
**शक्तिः सोमोऽमृतमयो रसशक्तिकरी तनूः।।**
**वैद्युतादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः।**
**तेजोरसविभेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम्।।''**

(बृहज्जाबालोपनिषद्-2-1/45)

अग्नि कौन थे ? इनका वंश किससे प्रारम्भ हुआ ? अग्निवंश के नाम से वंश का आरम्भ एवं विस्तार कब और कैसे हुआ ? इत्यादि प्रश्न पौराणिक ऐतिह्यसन्दर्भों के अवलोकन की जिज्ञासा को सहज उद्बुद्ध करते हैं।

वैदिक मान्यता के अनुसार वैश्वानर अग्निवंश के आदिपुरुष थे, जिन्हें ही कालान्तर में अग्नि के पर्याय के रूप में प्रचलित कर दिया गया। वैश्वानर की राजधानी हाटकपुर थी। इन वैश्वानर के दो पुत्रियाँ तथा एक पुत्र थे। मत्स्यपुराण में वैश्वानर की पुत्रियों का वर्णन निम्नानुसार प्राप्त होता हैः-

**''पुलोमा कालका चैव वैश्वानरसुते हि ते।**
**बह्वपत्ये महासत्त्वे मारीचाख्यपरिग्रहे।।**

**पौलोमान् कालकेयाँश्च मारीचोऽजनयत्पुरा।**
**अवध्या येऽमराणां वै हिरण्यपुरवासिनः।।''**

अर्थात् वैश्वानर की दो पुत्रियाँ पुलोमा एवं कालका बहुत पुत्रों वाली एवं बहुत बलशालिनी थीं। उनका विवाह मारीच के साथ हुआ था। मारीच से उनके जो पुत्र हुए वे क्रमशः पौलोम और कालकेय नाम से प्रसिद्ध हुए। ये देवताओं के लिए भी अवध्य थे तथा ये हिरण्यपुर में निवास करते थे। कालकेयों का वर्णन नन्दिपुराण में भी प्राप्त होता है। उन्होंने नान्दीमुखों से युद्ध किया था।

वैश्वानर के पुत्र विभावसु थे, जिनका अपर नाम जातवेदा था। इन जातवेदा द्वारा वैश्वानरवंश का विस्तार किया गया।

पौराणिक मान्यता के अनुसार ब्रह्मा (प्रजापति) के पुत्र मरीचि, भृगु एवं अंगिरा अग्निवंश का संवर्धन करने वाले थे। मरीचि के पुत्रों में अग्निष्वात्त नामक पितर ज्येष्ठ थे, जिनसे देवों एवं देवानुयायी यज्ञप्रवर्तक द्विजों का विस्तार हुआ। इनका उल्लेख मनुस्मृति में निम्नानुसार प्राप्त होता हैः-

**''अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः।।** (मनुस्मृति-3/125)

मरीचि के बाद ब्रह्मा के दूसरे पुत्र थे अंगिरा तथा अंगिरा के पुत्र थे हविर्भुज्। ये भी पितर थे। इनसे क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई। जैसा कि मनुस्मृति में भी कहा गया हैः-

**''क्षत्रियाणां हविर्भुजः।''** (मनुस्मृति - 3/127)

अंगिरा के चार कन्यायें भी थी - सिनीवाली, कुहू, राका एवं अनुमति।

इनका वर्णन श्रीमद्भागवत महापुराण में निम्नानुसार उपलब्ध होता है।

**''श्रद्धा त्वङ्गिरसः पत्नी चतस्त्रोऽसूत कन्यका।**
**सिनीवाली कुहू राका चतुर्थ्यनुमतिस्तथा।।''** (श्रीमद्भगावत-4/1/34)

अंगिरा के छोटे भाई भृगु थे, जिन्होंने अग्निवंश की एक अन्य शाखा भृगुवंश को जन्म दिया। परशुराम भृगुवंश में ही उत्पन्न हुए थे। भृगु के पुत्र शुक्राचार्य थे, जो असुरों के गुरु माने जाते रहे हैं। अंगिरा के पुत्र बृहस्पति थे, जो

देवताओं के गुरु माने जाते रहे। बृहस्पति का पुत्र कच था जिसने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया था। कच एवं देवयानी का आख्यान पुराणों में अनेकत्र उपलब्ध होता है तथा वहाँ सम्पूर्ण पृष्ठभूमि अग्निवंश की ही वर्णित प्राप्त होती है।

पुराणवाङ्मय के समालोचकों ने उक्त प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है, कि मरीचि के पुत्रों ने देवों में क्षत्रियत्व को प्रतिष्ठापित किया। यही कारण है कि देव सदैव अस्त्रशस्त्रधारी रहे हैं तथा असुरों के विनाश हेतु तत्पर रहने वाले वर्णित किये गये हैं। भृगु एवं अंगिरा के पुत्रों ने मनुष्यों में क्षत्रियत्व को प्रतिष्ठापित किया।

यदि मानवीय क्षत्रियवंशों का क्रमनिर्धारण किया जाये, तो सभी वंशों से अग्निवंश की प्राचीनता परिलक्षित होती है, क्योंकि सूर्यवंश भी मरीचि के ही पौत्र विवस्वान् से प्रारम्भ होता है। अन्य क्षत्रियवंशों से इसका सम्बन्ध भी मानुष्यक आधार पर विस्तार को प्राप्त करता रहा। मानुष्यक क्षत्रिय वंशों में अग्निवंश के आदिपुरुष अंगिरा हैं, ऐसा पुराणों से स्पष्ट है।

अंगिरा की पत्नी आत्रेयी थी, जो महर्षि अत्रि की पुत्री थी। आत्रेयी ने वाल्मीकि के पास वेदान्त विद्या का अध्ययन किया था। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति ने उत्तररामचरित में आत्रेयी का वाल्मीकि की शिष्या के रूप में वर्णन किया है। अंगिरा से आत्रेयी के तीन पुत्र हुए - आहव, धिष्ण्य एवं गार्हप। ये तीनों अग्निवंश के शाखाप्रवर्तक रहे। अतः अग्निवंश की तीन शाखायें मानी जाती हैं:- आहव शाखा, धिष्ण्य शाखा एवं गार्हप शाखा।

आहव शाखा में कृशानु सर्वाधिक प्रतापी थे। इनके पुत्र का नाम संवर्तक था तथा संवर्तक के पुत्र का नाम प्रतर्दन था। प्रतर्दन की संततियों के बारे में जानकारी उपलब्ध नहीं होती । धिष्ण्य शाखा में प्रवाहण, हुवस्वान्, बम्भारि, कवि, विश्ववेदा, हव्यवाहन, प्रचेता तथा मार्जालीय नामक प्रसिद्ध क्षत्रिय रहे। इनका वर्णन वेद वाङ् मय में अनेकत्र उपलब्ध होता है।

प्रचेता के दश पुत्र थे, ऐसा महाभारत में उल्लेख हुआ है। प्रचेता का ही दूसरा नाम प्राचीनबर्हिष् भी था। इनकी पत्नी समुद्रकन्या सवर्णा थी। प्रचेता के पुत्रों में दक्ष ने सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त की थी। गार्हप शाखा में अजैकपात् एवं अहिर्बुध्न्य विशेष विख्यात रहे, अतः इन्हें देवों के रूप में ख्याति प्राप्त हुई। नक्षत्रों के अधिदेवता के रूप में ज्योतिषशास्त्र में भी इनका उल्लेख हुआ है।

मरीचि की पत्नी सम्भूति थी, जिससे चार कन्यायें एवं एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। कूर्मपुराण में इनका उल्लेख निम्नानुसार प्राप्त होता है :-

**''मरीचेरपि सम्भूतिः पौर्णमाससमूयत।**
**कन्याचतुष्टयं चैव सर्वलक्षणसंयुतम्।।**
**तुष्टिर्ज्येष्ठा तथा वृष्टिः कृष्टिश्चापथचितिस्तया।**
**विरजाः पर्वतश्चैव पौर्णमासस्य तौ सुतौ।।''** (कूर्मपुराण-12/4,5)

अर्थात् मरीचि से सम्भूति ने पौर्णमास नामक पुत्र प्राप्त किया था। तथा चार उत्तम लक्षणों वाली कन्यायें भी प्राप्त की थीं। इन कन्याओं के नाम थे- तुष्टि (ज्येष्टा) वृष्टि, कृष्टि तथा अपचिति। पौर्णमास के दो पुत्र हुए थे। उनके नाम थे विरजा तथा पर्वत।

मरीचि के ही असम्भूति से कश्यप उत्पन्न हुए। कश्यप के दो पत्नियाँ थी दिति एवं अदिति। इनमें अदिति से द्वादश आदित्य उत्पन्न हुए - इन्द्र, धाता, भग, पूषा, मित्र, वरुण, अर्यमा, अर्चि (अंशु), विवस्वान्, त्वष्टा तथा विष्णु एवं प्रजापति। स्वरूप की दृष्टि से सर्वाधिक तेजस्विता का होना इनके क्षत्रियत्व का प्रमाण है। इन द्वादश आदित्यों में विवस्वान् ने अग्निवंश एवं सूर्यवंश का सर्वाधिक विस्तार किया।

इनके विषय में तथा इनकी सन्मति के विषय में मत्स्यपुराण में निम्नांकित उल्लेख प्राप्त होता हैः-

**''विवस्वान् कश्यपात् पूर्वमदित्यामभवत्सुतः।**
**तस्य पत्नीत्रयं तद्वत्संज्ञा राज्ञी प्रभा तथा।।**
**रैवतस्य सुता राज्ञी रेवतं सुषुवे सुतम्।**
**प्रभा प्रभातं सुषुवे त्वाष्ट्री संज्ञां तथा मनुम्।।**
**यमश्च यमुना चैव यमलौ तु बभूवतुः।।** (मत्स्यपुराण - 11 / 2-4)

अर्थात् विवस्वान् कश्यप से अदिति में उत्पन्न हुए थे। उनके तीन पत्नियाँ थी - संज्ञा राज्ञी तथा प्रभा। रैवत की पुत्री राज्ञी थी, उसने रेवत नामक पुत्र को जन्म दिया। प्रभा ने प्रभात को जन्म दिया। त्वष्टा (विश्वकर्मा) की पुत्री संज्ञा ने मनु, यम तथा यमुना को जन्म दिया। इनमें यम तथा यमुना युग्म सन्तान थे।

विवस्वान् के ज्येष्ठ पुत्र मनु थे तथा कनिष्ठ पुत्र थे यम । मनु से सूर्यवंश को तथा यम से अग्निवंश को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। यम वंश शाखागत पीढी के प्रणेता के रूप में चौदह हुए, जिनका उल्लेख निम्नानुसार किया जा सकता हैः-

(1) धर्मराज (2) यम (3) मृत्यु (4) सर्वभूतक्षय (5) अन्तक (6) काल (7) वैवस्वत (8) व्रघ्न (9) परमेष्ठी (10) वृकोदर (11) नील (12) औदुम्बर (13) चित्र एवं (14) चित्रगुप्त।

धर्मराज के दस पत्नियाँ थी। इन दस पत्नियों से जो सन्तानें हुई, उनका विवरण अग्निपुराण में निम्नानुसार उपलब्ध होता है :-

**''धर्मसर्गं प्रवक्ष्यामि दशपत्नीसु धर्मतः।**
**विश्वेदेवा स्तु विश्वायाः साध्याः साध्याद् व्यजायत।।**
**मरुत्वत्या मरुत्वन्तो वसोस्तु वसवोऽभवन्।**
**मनोस्तु मानवाः पुत्रा मुहूर्त्तास्तु मुहूर्त्तजाः।।**
**लम्बाया धर्मतो घोषो नागवीथी च यामिजा।**
**पृथिवीविषयं सर्वं त्वरुन्धत्यामजायत।।**
**संकल्पायास्तु संकल्पा इन्दोर्नक्षत्रतः सुताः।**

अर्थात् अब मैं धर्मराज से उनकी दस पत्नियों के गर्भ से जो सन्तानें उत्पन्न हुई उस धर्म सर्ग का वर्णन करूँगा। विश्वा नाम वाली पत्नी से विश्वेदेव प्रकट हुए। साध्या ने साध्यों को जन्म दिया। मरुत्वती से मरुद्गण उत्पन्न हुए। वसु से वसुगण उत्पन्न हुए। भानुमती के पुत्र भानु हुए। मुहुर्त्ता से मुहुर्त नामक पुत्र हुए। लम्बा से घोष नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यामि से नागवीथी नामक कन्या उत्पन्न हुई। पृथ्वी का सम्पूर्ण विषय (प्राणिवर्ग) अरुन्धती से उत्पन्न हुआ। संकल्पा के गर्भ से संकल्पों की सृष्टि हुई। इन्दु से नक्षत्ररूपी कन्यायें उत्पन्न हुई।

वसु से जो वसुगण उत्पन्न हुए थे, वे आठ थे। उनके नाम इस प्रकार कहे गये हैं:-

**''आपो ध्रुवश्च सोमश्च धरश्चैवानिलोऽनलः।**
**प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ च नामत :।।** (अग्निपुराण -18/35)

(1) आप (2) ध्रुव (3) सोम (4) धर (5)अनिल (6)अनल (7) प्रत्यूष एवं (8) प्रभास ये आठ वसुओं के नाम है। इनकी सन्ततियों का वर्णन अग्निपुराण में निम्नानुसार प्राप्त होता है:-

**''आपस्य पुत्रो वैतण्ड्यः श्रमः शान्तो मुनिस्तथा।**
**ध्रुवस्य कालो लोकान्तो वर्चाः सोमस्य वै सुतः।।**

**धरस्य पुत्रो द्रविणो हुतहव्यवहस्तथा।**
**मनोहरायाः शिशिरः प्राणोऽर्यमणस्तथा।।**
**पुरोगवोऽनिलस्यासीदविज्ञातोऽनलस्य च।**
**अग्निपुत्रः कुमारश्च शरस्तम्बे व्यजायत।।**
**तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठतः।**
**कृत्तिकातः कार्तिकेयो यतिः सनत्कुमारकः।।**
**प्रत्यूषाद्देवलो जज्ञे विश्वकर्मा प्रभासतः।''** (अग्निपुराण-18/36-40)

अर्थात् आप नामक वसु के चार पुत्र हुए- वैतण्ड्य, श्रम, शान्त एवं मुनि। ध्रुव नामक वसु का पुत्र काल था जो लोकों का अन्त करने वाला था। सोम नामक वसु का पुत्र वर्चा था। धर के प्रथम पुत्र का नाम द्रविण था। दूसरे पुत्र का नाम हुतहव्यवह, तीसरे पुत्र का नाम शिशिर, चौथे पुत्र का नाम प्राण तथा पाँचवें पुत्र का नाम रमण था। ये पाँचों पुत्र मनोहरा से उत्पन्न हुए थे। (कुछ ग्रंथों में धर का दूसरा नाम नल भी प्राप्त होता है। इस आधार पर सत्ययुग के प्रसिद्ध राजा नल का भी ग्रहण किया जाता है तथा उन्हे अग्निवंशीय माना जाता है) अनिल नामक वसु का पुत्र पुरोगव था तथा अनल नामक वसु का पुत्र अविज्ञात नाम वाला था। कुमार (स्कन्द) भी अग्नि का पुत्र कहा जाता है। वह सरकण्डों के समूह में उत्पन्न हुआ था। उसके पश्चात् शाख विशाख एवं नैगमेय ये तीन सन्तानें और उत्पन्न हुई। कृत्तिकाओं के पालन करने से स्कन्द कार्तिकेय कहा गया है। ये ही यति सनत्कुमार के रूप में अवतरित हुए। प्रत्यूष से देवल का तथा प्रभास से विश्वकर्मा का जन्म हुआ।

प्रत्यक्ष के दो पुत्रियाँ भी थी- कपिला एवं लोहिता।

उक्तवर्णित वसुओं में जो छठा वसु अनल नाम वाला था, उसे ही अग्नि कहा जाता था। तथा उसने ही पूर्वप्रचलित धर्मवंश को अग्निवंश के रूप में पुनः प्रतिष्ठापित करने का कार्य किया। इस अग्नि के तीन पत्नियाँ थी- द्युति, स्वाहा तथा स्वधा।

मत्स्यपुराण में द्युति का अपरनाम शिवा भी कहा गया है तथा अग्नि की पूर्वोक्त सन्ततियों के विषय में निम्नांकित उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे आदि आग्नेय महा पुराणोक्त तथ्यों की भी प्रामाणिकता स्पष्ट हो जाती है-

**''शिवा मनोजवं पुत्रमविज्ञातपतिं तथा।**
**अवाप चानलात्पुत्रावग्निप्रायगुणौ पुनः।।**

**अग्निपुत्रः कुमारस्तु शरस्तम्बे व्यजायत।**
**तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठजाः।।** (मत्स्यपुराण-5/25,26)

अर्थात् द्युति का अपर नाम शिवा था उसने अनल (अग्नि) से अग्नि जैसे ही गुणों से सम्पन्न दो पुत्र प्राप्त किये। पहला पुत्र मनोजव था (कुछ विद्वान् मनोजव का अर्थ कामदेव मानते हैं, जबकि कुछ विद्वान् जव का अर्थ गति होने से संशयास्पद मानते है। पाठान्तर में 'यति' शब्द भी मिलता है, जिससे अनुमान किया जा सकता है, कि अविज्ञात ने संन्यास ग्रहण किया हो। अग्नि का तीसरा पुत्र जो शिवा से उत्पन्न हुआ वह कुमार था जो सरकण्डों के समूह में उत्पन्न हुआ था। उसके बाद तीन और पुत्र हुए शाख, विशाख एवं नैगमेय।

कुछ स्थानों पर अविज्ञात के अन्य नाम अर्क का भी उल्लेख प्राप्त होता है। द्युति ने अग्नि से एक पुत्री को भी जन्म दिया था, जिसका नाम आग्नेयी था। आग्नेयी का विवाह स्वायम्भुव मनु की छठी पीढी में उत्पन्न मनु (द्वितीय) के पुत्र उरु के साथ किया गया था। उरु से उसे छः सन्तानें प्राप्त हुई थी, उनके नाम हैः- अङ्ग, सुमना, स्वाति, श्यतु, अंगिरा (द्वितीय) एवं गय।

अग्नि की दूसरी पत्नी स्वाहा थी, जिसकी सन्तानो के विषय में श्रीमद्भागवत महापुराण में निम्नांकित उल्लेख प्राप्त होता हैः-

**''स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजाँस्त्रीनजीजनत्।**
**पावकं पवमानं च शुचिं च हुतभोजनम्।।**
**तेम्योऽग्नयः समभवँश्चत्वारिंशच्च पञ्च च।**
**त एवैकोनपञ्चाशत्साकं पितृपितामहैः।।''** (श्रीमदभागवत - 4/1/60,61)

अर्थात् स्वाहा ने अग्नि से तीन अभिमानी पुत्रों को उत्पन्न किया। ये थे - पावक, पवमान एवं शुचि। ये तीनों अग्नि के भोजन में से ही भोजन ग्रहण करने वाले थे। इनसे पैतालीस सन्तानें हुईं, जो परस्पर पिता पितामह के रूप में कुल उनचास मानी जाती हैं।

साम्ब पुराण के निम्नांकित उल्लेख से भी उक्त कथ्य की पुष्टि हो जाती हैः-

**''अग्नीनां पुत्रपौत्राश्च चत्वारिंशन्नवैव तु।**
**मरुतामपि सर्वेषां विज्ञेयाः सप्तसप्तकाः ।।** (साम्बपुराण - 18/34)

अर्थात् अगिन के पुत्र एवं पौत्र कुल मिलाकर उनचास थे। मरुद्गण भी उनचास थे, वे पहले सात हुए थे फिर उन सातों से एक एक से सात सात दूसरे उत्पन्न हुए,

कूर्मपुराण में भी इसी अनल (अग्नि) नामक वसु की सन्ततियों का वर्णन प्राप्त होता है, जो इन्ही तथ्यों की पुष्टि करता हैः-

**''योऽसौ रुद्रात्मको वह्नि र्ब्रह्मणस्तनयो द्विजाः।**
**स्वाहा तस्मात्सुतान् लेभे त्रीनुदारान्महौजस :।।**

**पावकः पवमानश्च शुचिरग्निश्च ते त्रयः।**
**निर्मथ्य पवमानः स्यात् वैद्युतः पावकः स्मृतः।।**

**यश्चासौ तपते सूर्यः शुचिरग्निस्त्वसौ स्मृतः।**
**तेषां तु सन्ततावन्ये चत्वारिंशच्च पञ्च च ।।**

**पावकः पवमानश्च शुचिस्तेषां पिता च यः।**
**एते चैकोनपंचाशद् वह्नयः परिकीर्त्तिताः।।**

**सर्वे तपस्विनः प्रोक्ताः सर्वे यज्ञेषु भागिनः।**
**रुद्रात्मकाः स्मृताः सर्वे त्रिपुण्ड्रांकितमस्तकाः।।''** (कर्मपुराण-12/14-18)

उपर्युक्त उल्लेख में अग्नि को रौद्र स्वभाव वाला, पावक को वैद्युत् स्वभाव वाला, पवमान को निर्मन्थ स्वभाव वाला तथा शुचि को उष्ण स्वभाववाला कहा गया है। तथा जिन उनचास अग्निवंशियों का निर्देश किया है उनके विषय में लिखा है, कि ये सब तपस्वी थे, यज्ञों में भाग ग्रहण करने वाले थे, रुद्र के समान प्रभावशाली थे तथा मस्तक पर भस्म का त्रिपुण्ड लगाया करते थे।

स्वाहा ने भी उपर्युक्त तीन पुत्रों के अतिरिक्त एक पुत्री को जन्म दिया था, जिसका नाम धिषणा था। धिषणा का विवाह सूर्यवंश में उत्पन्न राजा पृथु के पौत्र तथा अन्तर्धान के पुत्र हविर्धान के साथ किया गया था। उसने सूर्यवंश का विस्तार करने में महती भूमिका का निर्वाह किया।

अग्नि की तीसरी पत्नी स्वधा थी। स्वधा से पितरों का जन्म हुआ। इनसे अग्निवंश की एक अन्य पितृशाखा का उदय हुआ। साम्बपुराण में इनका उल्लेख निम्नानुसार प्राप्त होता है-

**''एष संवत्सरो ह्यग्निः ऋतवस्तस्य जज्ञिरे।**
**ऋतुपुत्रार्त्तवाः पञ्च इति सर्गः सनातनः।।** (साम्बपुराण-18/35)

अर्थात् संवत्सर अग्नि से स्वधा को पाँच पुत्रियाँ उत्पन्न हुई। ये पाँच ऋतुएँ कहलाती है। इन पाँच ऋतुओं के पाँच पुत्र हुए जो आर्त्तव कहलाते हैं। इनकी सृष्टि सनातन है।

इस पाँच आर्त्तवों की जो सन्तानें हुईं, वे सब जितनी भी थीं, पिता पितामहादि सहित सब बाद में तीन भागों में विभक्त हो गयी- सौम्य शाखा, बर्हिषदशाखा तथा अग्निष्वात्त शाखा। जैसा कि साम्बपुराण के निम्नांकित उल्लेख से प्रमाणित होता हैः-

**''आर्त्तवाः पितरो ज्ञेया ये जाता ऋतुसूनवः ।**
**पितामहास्तु ऋतवो मासा वै सोमसूनवः।।**

**प्रपितामहाश्च ऋतवः पश्चाद्वा ब्रह्मणः सुताः।**
**सौम्या बर्हिषदश्चैव अग्निष्वात्ताश्च ते त्रिधा।।''** (साम्बपुराण - 18/39,40)

पितृवंश में अग्निष्वात्त पितरों से एक मानसी कन्या का जन्म हुआ। उसका नाम अच्छोदा था। पितृवंश में ही उत्पन्न अमावसु के प्रति आसक्त होकर उसने विवाह की इच्छा व्यक्त की किन्तु सापिण्डय् के कारण अमावसु ने अस्वीकृति प्रकट की। यही अच्छोदा मानसिक व्यभिचार रूप पाप के कारण बाद में नदी के रूप में परिणत हो गयी जैसे सूर्यपुत्री यमुना हुई थी। मत्स्यपुराण में इसका विस्तृत उल्लेख चौदहवें अध्याय में प्राप्त होता हैः-

**''अग्निष्वाता इति ख्याता यज्वानो यत्र संस्थिता।**
**अच्छोदा नाम तेषां तु मानसी कन्यका नदी।।** (मतयपुराण -14/2)

अगिनष्वात्त पितरों की भाँति ही बर्हिषद नामक पितरों की कन्या पीवरी थी। यह भी मानस-पुत्री थी। इसका उल्लेख भी मत्स्यपुराण में हुआ है-

**''विभ्राजा नाम चान्ये तु दिवि सन्ति सुवर्चसः।**
**लोका बर्हिषदो यत्र पितरः सन्ति सुव्रताः।।**

**महात्मानो महाभागा भक्तानामभयप्रदाः।**
**एतेषां पीवरी कन्या मानसी दिवि विश्रुता।।''** (मत्स्यपुराण - 15/1,5)

पुराणकार व्यास ने इस कन्याओं के तपश्चरण एवं भावी पुनर्जन्म के विषय में भी उल्लेख किये हैं, जो अग्निवंश की इस पितृवंश शाखा में पर्याप्त महत्व रखते है। मरीचिके ही तीसरे पितासंज्ञक पुत्र विवस्वान् थे। इनका वर्णन भी मत्स्यपुराण में निम्नानुसार हुआ हैः-

**''मरीचिगर्भा नाम्ना तु लोका मार्त्तण्डमण्डले।**
**पितरो यत्र तिष्ठन्ति हविष्मन्तोऽङ्गिरस्सुता।।**
**तीर्थाटनमदा यान्ति ये च क्षत्रियसत्तमाः।**
**राज्ञां तु पितरस्ते वै स्वर्गमोक्षफलप्रदाः।।** (मत्स्यपुराण -15/ 6,7)

यहाँ पुराणकार हविष्मन्त पितरों को क्षत्रिय शब्द से प्रतिपादित किया है, जिससे यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि बाद में उत्पन्न होने वाले अग्निवंशीय क्षत्रियों जनक ये हविष्मन्त पितर ही है। इन पितरों की भी एक यशोदा नामक मानसपुत्री का वर्णन प्राप्त होता है, जो सूर्यवंशी राजा पंचजन की पुत्रवधू, राजा अंशुमान् की धर्मपत्नी, राजा दिलीप की माता तथा भागीरथ की पितामही थी-

**''एतेषां मानसी कन्या यशोदा लोकविश्रुता।**
**पत्नी ह्यंशुमतः श्रेष्ठा स्नुषा पंचजनस्य च।।**
**जनन्यथ दिलीपस्य भगीरथपितामही।''**

कर्दम नामक प्रजापति के लोक में रहने वाले आज्यपा नामक पितरों को वैश्य कहा गया है तथा उनकी भी एक 'विरजा' नामक मानसी कन्या का वर्णन प्राप्त होता है, जिसका विवाह राजा नहुष के साथ हुआ था। वह ययाति की माता थी। जैसा कि मत्स्य पुराण के ही निम्नांकित उल्लेख से प्रमाणित होता हैः-

**''आज्यपा नाम लोकेषु कर्दमस्य प्रजापतेः।**
**पुलहाङ्गजदायादा वैश्यास्तान्मखयन्ति च ।।**

**एतेषां मानसी कन्या विरजा नाम विश्रुता।**
**या पत्नी नहुषस्यासीद् ययातेर्जननी तथा।।** (मत्स्यपुराण - 15 / 20,21,23)

कर्मपुराण में स्वधा की मानुषी पुत्रियों के बारे में वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ अग्निष्वात्त पितरों को अयज्वा तथा बर्हिषद् पितरों को यज्वा भी कहा गया है। इन दोनों प्रकार के पितरों से स्वधा ने दो पुत्रियों को जन्म दिया था - मेना तथा धरणी को। यह उल्लेख इसप्रकार हैः-

**''अयज्वानश्च यज्वानः पितरो ब्रह्मणः स्मृता।**
**अग्निष्वात्ता बर्हिषदो द्विधा तेषां व्यवस्थिति।।**
**तेभ्यः सुतां स्वधा जज्ञे मेनां वै धरणीं तथा।**
**ते उभे ब्रह्मवादिन्यौ योगिन्यौ मुनिसत्तम।**
**असूत मेना मैनाकं क्रौञ्चं तस्यानुजौ तथा।।**
**गङ्गां हिमवतो जज्ञे सर्वलोकैकपावनीम्।।''** (सूर्यपुराण -12 / 14-21)

उपर्युक्त उल्लेखानुसार पितृवंशोत्पन्ना कन्या मेना तथा धरणी ये दोनों हिमवान् की पत्नियाँ थी । हिमवान् से मेना ने मैनाक तथा क्रौञ्च नामक पुत्रों को जन्म दिया। ( पार्वती भी हिमवान् एवं मेना की पुत्री थी, जिसका विवाह शिव के साथ हुआ था। ) धरणी ने गङ्गा नामक पुत्री की जन्म दिया, जो बाद में नदी के रूप में परिणत हुई तथा देवनदी के रूप में उसने प्रसिद्धि प्राप्त की।

# वन्दे वाणी विनायकौ

**डॉ. रामदेव साहू**
प्रोफेसर (वेदविज्ञान)
विश्वगुरु दीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर

**वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।**
**मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ ||**

इस मंगल श्लोक में वाणी एवं विनायक की वन्दना की गयी है। वाणी वाग्देवता है। वैदिक देवताओं में वाक् का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाक् सृष्टि का आधारभूत मूल तत्त्व है। 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे' वेद का स्पष्ट उद्घोष है। विनायक को वेद में गणपति कहा है। गणपति वाक् का नियन्ता है, अतः वाक् का अस्तित्व गणपति पर तथा गणपति का अस्तित्व वाक् पर अवलम्बित है। ये दोनों तत्त्व परस्पर एक दूसरे पर अवलम्बित हैं । ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड दोनों की उत्पत्ति या सृष्टि में वाक् का स्थान ऊर्ध्व में तथा गणपति का स्थान अधोभाग में होता है। इस ऊर्ध्व एवं अधोभाग का निर्धारण वषट्कारमण्डल से किया जाता है।

वषट्कारमण्डल का ऊर्ध्वभाग जिसे सहस्र' भी कहा जाता है का मध्यबिन्दु इस वाक् का ब्रह्माण्डीय स्थान है तथा वषट्कारमण्डल का अधोभाग जिसे 'अक्ष' या 'नाभि' कहा जाता है, वह गणपति का ब्रह्माण्डीय स्थान है। वषट्कार मण्डल में अक्ष तुल्य अन्य अक्षों की संख्या एक सहस्र होती है, अतः वषट्कारमण्डल को ही सहस्राक्ष (इन्द्र) कहा जाता है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में वाक् एवं विनायक ऊर्ध्व एवं अध: में स्थित होते हुए एक दूसरे का नियन्त्रण करते हुए ब्रह्माण्ड के अस्तित्व को शाश्वत बनाये रखते हैं, वैसे ही पिण्ड (जीवशरीर) में भी इनकी स्थिति समानान्तर होती है। पिण्ड में धड़रूपी वषट्कारमण्डल के ऊर्ध्वभाग कण्ठ में वाक् की स्थिति होती है तथा उसके अधोभाग नाभि में गणपति की स्थिति होती है। ये दोनों पिण्ड के मुख्य प्राण होते हैं।

कण्ठ में स्थित वाक् में वायु की प्रधानता होती है तथा ऋषिप्राण, देवप्राण, पितृप्राण गन्धर्व प्राण एवं पशुप्राण (सौर प्राण) के द्वारा वायु के कर्षण से यह वाक् रूपी प्राण पञ्च वायुओं के रूप में विभक्त होकर प्राण,

अपान, उदान समान एवं व्यान इन पाँच प्राणों के रूप में अवस्थित हो जाता है। पञ्च प्राणों की कर्षण क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में पाँच उपप्राण भी पिण्ड में नाग, देवदत्त, कूर्म, कृकल एवं धनंजय के रूप में पिण्ड में ही स्थानापन्न हो जाते हैं। गणपति प्राण इन पाँचों प्राणों एवं उपप्राणों को नियन्त्रित कर वाक् को पिण्ड में स्थायित्व प्रदान करता है तथा वाक् के आधायक पञ्च प्राणों एवं उपप्राणों के स्थायित्व से पिण्ड भी आपेक्षिक स्थायित्व को प्राप्त करता है, अत: प्राणिशरीर की स्थिति वाक् एवं गणपति दोनों पर आधारित होने से पिण्डधारी जीव के लिए तथा विशेषरूप से बुद्धितत्त्व के समाश्रित मनुष्य के लिए इन दोनों की वन्दना करना वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय दोनों ही दृष्टियों से नितान्त औचित्यपूर्ण है।

उक्त श्लोक में वाक् (वाणी) एवं गणपति (विनायक) को क्रमश: वर्णों, अर्थसमूहों, रसों, छन्दों एवं मंगलों का कर्त्ता बतलाया गया है। वाक् का सम्बन्ध वर्णों से होता है। वर्ण वे हैं, जिनसे वाक् के विशिष्ट उच्चारणीय रूपों का वरण अर्थात् चयन किया जाता है। पिण्ड (शरीर) में साकंज प्राणों से उच्चारण स्थान वाले विशिष्ट अंगों एवं उपाङ्गों की सृष्टि होती है। वे अंग एवं उपाङ्ग जब उस चयन किये गये वाक्-स्वरूप को ध्वनित करते हैं, तो उस उच्चरित वर्ण विशेष की श्रूयमाणता का अनुभव होता है।

वर्णों पर आधारित शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग से लोकव्यवहार की निष्पत्ति होती है। वर्णों की उत्पत्ति-प्रक्रिया में गणपति प्राण की भी भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि गणपति प्राण द्वारा वाक् के कर्षण एवं वाक् समाश्रित पञ्च प्राणों के प्रतिकर्षण से ही ध्वनि की उत्पत्ति होती है। यह ध्वनि नाभि से श्वास के साथ कण्ठ तक पहुँचती है, तभी वर्णोच्चारण सम्भव होता है। यदि कर्षण एवं प्रतिकर्षण की प्रक्रियाओं में से एक भी न हो तो प्राणी वर्णोच्चारण में अक्षम हो जाता है। अत: वाक् के साथ गणपति का सम्बन्ध उनके कर्तृत्व को स्पष्ट परिलक्षित करता है।

'अर्थसंघानां' पद में संघ शब्द ध्यातव्य है। वर्ण उच्चारणानुगत होने से एक ही प्रकार का होता है, किन्तु उस एक वर्ण के भी अनेक अर्थ होते हैं। अर्थज्ञान के अभाव में अज्ञानी जन को शाब्दबोध नहीं होने पर भ्रमवश वह कई जगह शब्दप्रयोग को मिथ्या समझ लेता है या उस पर आक्षेप करने लगता है, ऐसी मानवप्रवृत्ति भी वर्तमान ज्ञानहानि के युग में अपने पांव पसार रही है। गोस्वामी सन्त तुलसीदास जी ने इसी तथ्य का बोध कराने के लिए यहाँ संघ शब्द का प्रयोग किया है।

शाब्दबोध के हेतुक अर्थ की निष्पत्ति में भी वाक् एवं गणपति अर्थात् वाणी एवं विनायक का ही कर्तृत्व बतलाया है। इन दोनों तत्त्वों का सम्बन्ध मनस्, बुद्धि एवं चित्त इन तीनों अन्तःकरणों से नित्य बना रहता है। ऐसी स्थिति में वाक् मनस् एवं बुद्धि ये तीनों मिल कर वर्णोच्चारणाधारित शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग में प्राणी को सक्षम बनाते हैं। इसी प्रकार गणपति प्राण बुद्धि एवं चित्त ये तीनों मिल कर लोकव्यवहार के निष्पादन के निमित्त उनके अर्थ का अवधारण करते हैं। अर्थसंघों की ही गण संज्ञा है, अत: उनका रक्षक होने से गणपति का गणपतित्व सिद्ध होता है।

'रसानां' पद में रस का अनेकत्व विवक्षित हुआ है। सामान्यतया रस आनन्दमय तत्त्व ब्रह्म अथवा आत्मा का उपलक्षक है। 'रसो वै स: कह कर वेद ने इसका स्पष्ट उद्घोष किया है। यही ब्रह्म या आत्मा प्रत्येक प्राणी में स्थित होकर अपने अनेकत्व को व्यक्त कर रहा है। वाङ्मय पञ्च प्राणों (वाक्) एवं गणपति प्राण (विनायक) के साहचर्य से इस रस का साक्षात्कार योगीजन करते हैं।

साहित्यशास्त्रियों के अनुसार वाक् में ही अनेक रस निहित हैं, जो भावमूलक हैं। मन, बुद्धि एवं चित्त में उद्भूत होने वाले भाव वाक् के आश्रित हो कर इसका सृजन करते हैं, तथा भावों के वैविध्य से रसों का भी वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। गणपति प्राण वाक् का कर्षण करने के कारण मन, बुद्धि एवं चित्त को भी सहावस्थान के कारण आकृष्ट करता है, जिससे ये रसविशेष के प्रति केन्द्रित होते हैं तथा उसके परिणामस्वरूप एक तन्मयता की स्थिति बनती है, अतः वाणी एवं विनायक दोनों रसों के कर्त्ता कहे गये हैं।

'छन्दस्' शब्द का तात्पर्य है- वाक् का आच्छादन करने वाला तत्त्व | वर्ण, मात्रा, पद, यति, गति एवं लय छन्द के अंग हैं, जो सबके सब वागाश्रित होते हैं। इन वागाश्रित तत्त्वों का क्रियान्वयन एवं नियन्त्रण गणपति प्राण द्वारा ही होता है। ध्वनि एवं श्वास दोनों का उद्गम एवं प्रसार नाभि स्थान से ही ऊपर की ओर होता है। इस कार्य में गणपति प्राण अपान के ऊर्ध्व प्रसार का अवरोध करता है तथा व्यान के ऊर्ध्व प्रसार का उत्प्रेरण करता है जिसके परिणामस्वरूप परा वाक् क्रमशः पश्यन्ती एवं मध्यमा के स्तर से गुजर कर अन्त में वैखरी को प्राप्त कर लेती है। यही वाणी पुन: गणपति प्राण द्वारा किये जाने वाले कर्षण - विकर्षण से श्वास के साथ ध्वनि को व्यक्त करती है तथा छन्छ के उक्त सभी अंगों को सक्रिय बनाने में समर्थ होती है। छन्द वेद का पर्याय भी कहा गया है, क्योंकि वाक् एवं गणपति प्राण से ही आदि में ऊँकारात्मक वेदध्वनि की उत्पत्ति होती है।

पुनश्च गणपति प्राण से वाक् की सक्रियता के साथ ही गति उत्पन्न होती है। प्रत्येक क्रिया वस्तु की स्थिति एवं गति पर निर्भर होती है, जिसे यजु कहा गया है। इसके सन्निधान से ही स्पष्ट होता है कि गणपति प्राण वस्तु की स्थिति को बनाये रखता है तथा वाक् उसका विस्तार करती है। प्राणिशरीर की क्रियाओं के क्रियान्वयन में ये दोनों प्राण छन्दस्त्व को सार्थक करते हैं, अत: इन्हें छन्दों का भी कर्त्ता कहा गया है।

मंगल परम श्रेयस् है। इस रूप में पर ब्रह्म या आत्मा ही मंगल है, जो इस जीव का कल्याणकारक है। यह मंगल प्राणिशरीर में ही अवस्थित होता है तथा इसकी स्थिति भी वाक् एवं गणपति दोनों पर ही आश्रित है। प्राणिशरीर में गणपति प्राण जब तक सशक्त रहता है, तब तक वह निरन्तर वाक् को नियन्त्रित किये रहता है, जिससे पञ्च प्राणों के क्रियान्वयन में बाधा नहीं आती तथा प्राणी प्राणवान् बना रहता है।

प्राणी की इस प्राणवत्ता की स्थिति में वह मंगलस्वरूप आत्मा या ब्रह्म प्राणिशरीरस्थ पञ्च प्राणों से आबद्ध कर लिया जाता है अत: उसकी स्थिति समवाय सम्बन्ध का रूप ले लेती है तथा उनमें अन्योन्याश्रयता उपपन्न हो जाती है, जिससे प्राण एवं आत्मा में अभिन्नता की मिथ्या प्रतीति भी होती है, जिसे 'जीवात्मा' शब्द से भी व्यव हृत किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि न केवल प्राणी ही वाक् एवं गणपति पर आश्रित है, अपितु प्राणिशरीरस्थ आत्मा भी इन्हीं वाक् एवं गणपति के आश्रित है, अत: इन्हें मंगलों का भी कर्ता कहा गया है।

# ''राजतरङ्गिणी का साहित्यिक महत्त्व''

**डॉ. तारेश कुमार शर्मा**
वरिष्ठाध्यापक (संस्कृत)
रा.व.मा.वि. लिबासपुर, दिल्ली

राजतरङ्गिणी कल्हण द्वारा रचित एक संस्कृत ग्रन्थ है। राजतरङ्गिणी का शाब्दिक अर्थ है-'राजाओं की नदी', जिसका भावार्थ है-'राजाओं का इतिहास' या 'समय-प्रवाह'। यह कविता के रूप में है। इसमें कश्मीर का इतिहास वर्णित है, जो महाभारत काल से आरम्भ होता है। इस पुस्तक के अनुसार कश्मीर का नाम 'कश्यपमेरु' था जो ब्रह्मा के पुत्र ऋषि मरीचि के पुत्र थे।

राजतरङ्गिणी एक निष्पक्ष और निर्भय ऐतिहासिक कृति है। स्वयं कल्हण ने राजतरङ्गिणी में कहा है कि एक सच्चे इतिहासलेखक की वाणी को न्यायाधीश के समान राग-द्वेष विनिर्मुक्त होना चाहिए, तभी उसकी प्रशंसा हो सकती है-

**श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।**
**भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्यैव सरस्वती।।**

**कल्हण का कवित्व-**

राजतरङ्गिणी इतिहास ग्रन्थ तो है ही, साथ में श्रेष्ठ काव्य भी। कवि इतिहासकार की अपेक्षा काव्यत्व में स्वयं को निमज्जित होते हुए देखते हैं, क्योंकि वे (कवि) यथार्थ कथन का भी अपनी रसोचित आलंकारिक उक्तियों से प्रत्यक्षायमाण कर सकते हैं। इसलिए निर्माणशाली होने के कारण कवि प्रजापति के समकक्ष ठहरता है-

**कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः।**
**कविं प्रजापतिं त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः।।**

कविकर्म की श्रेष्ठता बताते हुए कल्हण पुनः कहते हैं कि-''जिन प्रतापी राजाओं की भुजच्छाया में पृथ्वी सर्वदा निर्भय और सुरक्षित रहीं, उन राजाओं पर यदि कवियों का अनुग्रह न होता तो उन्हें कौन याद कर पाता। सचमुच

स्वभावतः महान् कविकर्म सर्वोत्कृष्ट है। वह कवि के महनीय गुणों से पूर्ण परिचित है। वह जानता है कि सुकवि की वाणी अमृत रस का भी तिरस्कार करने वाली होती है। अमृत के पीने से केवल पीने वाला ही अमर बनता है, परन्तु कवि की वाणी दोनों के (अपने तथा अपने वर्णित पात्रों के) यशस्वी शरीर को अमर बना देती है-

**वन्द्यः कोऽपि सुधास्यन्दास्कन्दी स सुकवेर्गुणः।**
**येन याति यशःकाये स्थैर्यं स्वस्य परस्य च ।।**

कविकर्म की महत्ता का प्रतिपादन करता हुआ कवि कह रहा है, कि अपने प्रताप से भूमण्डल को निर्भय करने वाले राजाओं का नाम तथा काम कहाँ रहता है? यदि कवि की वाणी उनके चरित्र का रम्य विवरण प्रस्तुत नहीं करती-

**भुज-वनतरुच्छाया येषां निषेव्य महौजसां,**
**जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया।**
**स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं**
**प्रकृतिमहते कुर्मस्त्वस्मै नमः कविकर्मणे।।**

इसी बात का समर्थन करते हुए कवि पुनः कहता है कि यदि कवि न हो तो राजाओं का नाम और यश दोनों समाप्त हो जाएँ, उसका काव्य ही राजाओं के यश को अजर-अमर बना देता है, उनकी एक उक्ति उद्धृत है-

**येषां सन्निभ कुम्भ शायितपदा येऽपि श्रियं लेभिरे।**
**येषामप्यवसन्पुरा युवतयो गेहेष्वहश्चन्द्रिकाः।।**
**ताँल्लोकोऽयमवैति लोकतिलकान् स्वप्नेऽप्यजातानिव।**
**भ्रातः सत्कविकृत्य किं स्तुतिशतैरन्धं जगत्त्वां विना।।**

अर्थात् लोकवन्द्य जिन राजाओं के चरण हाथियों के मस्तक पर पड़ते थे, जिन्होंने राजलक्ष्मी प्राप्त की थी, जिनके राजभवन में सुन्दरी युवतियाँ दिन में ही चाँदनी छिटकाया करती थीं, उन राजाओं का यह संसार स्वप्न में भी उत्पन्न नहीं माना गया (क्योंकि कवियों द्वारा उनके विषय में कोई उल्लेख नहीं हुआ है) हे बन्धु के समान कवि के सत्काव्य! तुम्हारी शतशः स्तुतियाँ करें तो भी कम है, अधिक क्या कहें, जगत् तुम्हारे बिना अन्धा है।

**राजतरङ्गिणी में तात्कालिक समाज**

कवि ने तात्कालिक राजाओं की विलासिता, नृशंसता और मूर्खता का खुल कर चित्रण किया है। इस समय के नरेश, दुर्लभ मृगनयनियों को प्राप्त करने में, घोड़ों की खरीद-फरोख्त में तथा विट और वैतालिकों के द्वारा अपनी प्रशंसा करवाने में ही अपने धन का अपव्यय कर डालते थे। प्रजारक्षण में विनियुक्त उनका सम्पूर्ण समय रूठी कामिनियों को मनाने में और नौकरों के साथ शिकार करने में ही बीत जाता था।

अपनी युक्तियों में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से उद्भृत अनेक मार्मिक चित्र कवि ने उपस्थित किए हैं, जिनमें अनुभूति और संवेदना की निश्चल अभिव्यक्ति हुई है। राजतरङ्गिणी समाज के उच्चस्तरीय राजघरानों के यथार्थ चित्र को काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत करने वाला एक प्रामाणिक इतिहासग्रन्थ है। इस विशालकाय ग्रन्थ में कतिपय प्रसिद्ध राजाओं और मन्त्रियों के चरित्र भी लेखबद्ध किये गये हैं, क्योंकि सभी राजाओं और मन्त्रियों के चरित्र की समीक्षा करना एक दुष्कर और दुःसाध्य कार्य हो जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कश्मीरी राजाओं, मन्त्रियों, रानियों की सदाशयता, अपथगामिता, सदाचार-दुराचार, अर्थशुचिता, कामशुचिता तथा अशुचिता, वीरता, कायरता, सुनियोजित षड्यन्त्र, संयम, विलासिता, परोपकार, परद्रोह, धर्माचरण, अधर्माचरण आदि सभी विशेषताओं की झलक मिल जाती है। कल्हण हर्ष की राज्यसभा में चँवर डुलाने वाली, ताम्बूल का बीड़ा देने आदि सेवा में रत युवती ललनाओं के सौन्दर्य का आकर्षक वर्णन करता है। यथोक्तम्-

**कर्पूरोद्धूलनस्मेरा भ्रमन्त्यस्तरलभ्रुवः।**
**ब्रभुराश्रितपुंवेषा झषाङ्कच्छलदङ्कताम्।।**

इसका अर्थ है कि वे ललनाएँ जब कभी राजसभा में पुरुषवेश में आ जाती थीं, तो साक्षात् मीनकेतन कामदेव के उपस्थित हो जाने का भ्रम हो जाता था। कवि ने राजा जयापीड़ के कायस्थों का वर्णन धूर्तता के साथ किया है। राजा जयापीड़ के कायस्थ मंत्रियों ने राजा को धन का लोभ देकर प्रजा पर सीमा से पटकर लगवा दिया और उसे निर्दयतापूर्वक लिया गया। इन कायस्थों ने कहा- राजन्! धन के लिए आप व्यर्थ ही दिग्विजय करने का कष्ट क्यों उठाते हैं। अपने मण्डल को ही दण्डित कर धन इक्ट्ठा कीजिए। शिवदास आदि ऐसे कायस्थों के कहने से राजा धन के लोभ में लिप्त हो गया, और उसे कायस्थों का मुखापेक्षी होना पड़ा।

चक्रवर्मा के मारे जाने पर उसके उत्तराधिकारी पुत्र ने भी पापी कायस्थों की सलाह पर प्रजा को बहुत पीड़ित किया था-

**डामरैर्लुण्ठितो देशः प्रणाशे चक्रवर्मणः।**
**उत्थाप्य पापान् कायस्थान् तेन भूयोऽपि दण्डिताः।।**

क्षेमेन्द्र के बाद कल्हण ने ही तो सामयिक समाज पर व्यंग्य कस कर संस्कृत साहित्य की एक भारी कमी को पूरा करने में योग दिया है। कल्हण ने ब्राह्मणों की बहुत खिल्ली उड़ायी है। उत्पल (अवन्तिवर्मन्) कुल का नाश हो जाने पर नये राजा की खोज में गोकुल मन्दिर में ब्राह्मणों की परिषद् बैठी, ये ब्राह्मण क्या थे, बिना सींग के बैल थे, अपने शरीर पर मोटे कम्बल ओढ़े थे, धुँए से जली दाढ़ी वाले उन ब्राह्मणों ने देर तक विचार किया पर कोई निर्णय न कर सके, किसी के मस्तक पर राज्याभिषेक का जल नहीं छिड़क सके, हाँ उनके भाषण से उड़ने वाले थूक से उनकी दाढ़ियों का अभिषेक अवश्य हो गया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि ने केवल राजनीतिक रूपरेखा न खींच कर सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश की झलकियाँ भी प्रस्तुत की हैं। मातृगुप्त, प्रवरसेन, नरेन्द्रप्रभ और प्रतापादित्य तथा अनंगलेखा, मंख और दुर्लभवर्धन (तरंग-3) अथवा चन्द्रापीड़ और चमार (तरंग-4) के प्रसङ्गों में मानवविज्ञान के मनोरम चित्र झिलमिलाते हैं। इसके अतिरिक्त बाढ़, आग, अकाल, महामारी, आदि विभीषिकाओं तथा धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उपद्रवों में मानव स्वभाव की उज्ज्वल प्रगतियों एवं कुत्सित प्रवृत्तियों के साभिप्राय सङ्केत भी मिलते हैं।

**राजतरङ्गिणी में सूक्ति-सन्निवेश**

राजतरङ्गिणी में स्थान-स्थान पर सूक्तिमुक्ता प्रसविनी पद्यसूक्तियाँ बिखरी पड़ी हैं, जिनमें कवि के संघर्षमय, प्रौढ़ जीवन का अनुभव आभा बन कर झाँकता प्रतीत होता है। यदि शीलरूपी चिन्तामणि का विलगन हो गया, तो फिर जीवन में सारे दुर्गुण क्रमशः किस प्रकार आते-जाते हैं। इसका वर्णन देखिए-

**प्रागुन्मीलति दुर्यशः सुविषमं गुह्योऽभिलाषस्ततो,**
**धर्मः पूर्वमुपैति संशयमथो श्लाघ्योऽभिमानक्रमः।**
**सन्देहं प्रथमं प्रयात्यभिजनं पश्चात्पुनर्जीवितं,**
**किं नाभ्येति विपर्ययं विगलने शीलस्य चिन्तामणेः।।**

राजतरङ्गिणी के रसास्वादन में एक सूक्ति बड़ी ही स्पृहणीय है-

**तदमन्दरसस्यन्दसुन्दरेयं निपीयताम्।**
**श्रोत्रशुक्तिपुटैः स्पष्टमङ्गं राजतरङ्गिणी।।**

अर्थात् सुहृदवर! शान्त सुन्दर रसधारयुक्त इस राजतरङ्गिणी का अपने कर्णशुक्तिपुटों (सुतहियों) द्वारा आनन्दपूर्ण उन्मुक्त भाव से परिपूर्ण रसास्वादन कीजिए। (शुक्तिपुट- इस शब्द का साधारण अर्थ होता है-सीप की खाल या सुतुही। शुक्तिपुट तरल पदार्थ पीने के काम में आता है।)

जीवन की निस्सारता और काव्य का अक्षर विन्यास इन दोनों का मंजुल समन्वय देखने लायक है-

**यान्यक्षराण्यन्तरेण वाच्यं वक्तुं न पार्यते।**
**का गतिस्तदुपदाने मर्यादोल्लङ्घनं विना।।**

अर्थात् जिन अक्षरों को कहे बिना अभिप्राय व्यक्त नहीं होता, उसे प्रकट करने में मर्यादा उल्लङ्घन के अतिरिक्त और कौन गति है? स्वभाव से कामुक नारी को नियंत्रित करने में कौन समर्थ है? इस हृदयावर्जक पंक्ति का सुन्दर सन्निवेश अवश्य ही अवलोकनीय है-

**निसर्गतरलां नारीं को नियन्त्रयितुं क्षमः।**
**नियन्त्रेण किं वा स्याद्यत्सतां स्मरणोचितम्।।**

अर्थात् निसर्ग तरला नारी को नियंत्रित करने में कौन समर्थ है? अथवा नियंत्रण से क्या होगा, जो कि सज्जनों के लिए स्मरणीय है।

इस प्रकार प्रस्तुत काव्य में अनेक प्रकार की सूक्तियों का सुन्दर विच्छित्तिपूर्वक विन्यास कवि के द्वारा प्रसङ्गानुसार किया गया है।

**भाषा और शैली**

राजतरङ्गिणी काव्यदृष्टि से भी एक महार्घ रत्न है, जिसकी प्रभा आज भी उतनी ही आनन्ददायिनी है तथा जिसकी वर्णनशैली सहृदयों को आज भी अपनी सरलता और सरसता से सद्यः आवर्जित कर रही है। सहस्रों वर्षों की कालावधि में उत्पन्न, भिन्न-भिन्न शील-स्वभाव तथा इतिवृत्त वाले विविध नरेशों का वर्णन होने के कारण इसकी

शैली में सतत गत्वरता और एक प्रकार की सामासिकता है। आलम्बन-उद्दीपन के रूप में सोद्देश्य किये गये प्राकृतिक वर्णनों का वैसा चमत्कार तो नहीं मिलता, परन्तु प्रसङ्गानुसार तात्कालिक घटनाओं के उचित सन्निवेश तथा इतिवृत्त की पीठिका के रूप में प्रकृति के चित्रमय वर्णनों की उपलब्धि यहाँ देखी जा सकती है।

कल्हण वाल्मीकि तथा व्यास के काव्यरत्नों से पूर्ण परिचित तथा प्रभावित हैं। प्रथम तरङ्ग के अन्त में राजा युधिष्ठिर के दुःखद अन्त का वर्णन हो (1/368), या द्वितीय तरङ्ग में अधिक तुषारपात के कारण पड़े दुर्भिक्ष का वर्णन हो (2/19), भिक्षाचर की कष्टप्रद मृत्यु और लोहर-वंश की समाप्ति (8/1702), उच्चल की हत्या (8/309) आदि के वर्णन मार्मिक और प्रभाव उत्पन्न करने वाले हैं। सप्तम तरङ्ग में जब कल्हण हर्ष की आकृति और विशिष्टताओं का वर्णन करते हैं, तो रामायण की शैली अपना लेते हैं-

**प्रसन्नसिंहविप्रेक्षी नीचश्मश्रुच्छटांचितः।**
**वृषस्कन्धो महाबाहुः श्यामलोहितविग्रहः।।**

**व्यूढवक्षो क्षाममध्यो मेघघोषगभीरवाक्।**
**सोऽमानुषाणामपि तत्प्रतिभा-भङ्गकार्यभूत्।।**

अर्थात् वह राजा प्रसन्न सिंह के समान अपनी आँखें घुमा कर देखता था, उसकी लम्बी दाढ़ी शोभायुक्त थी, उसके कन्धे सांड के समान पुष्ट थे, उसकी भुजाएँ लम्बी थीं, उसके शरीर का रंग काला और लाल मिश्रण से युक्त था, चौड़ी छाती, पतली कमर, वज्र के समान गम्भीर आवाज से युक्त उस राजा के सामने देवता भी अपनी प्रतिभा खो बैठते थे।

**छन्द-अलंकार**

कल्हण अपनी कविता को अलंकारों की सजावट, शब्दों के चमत्कार तथा चाकचिक्य से कोसों दूर रखता है। उसके काव्य में एक विलक्षण सरलता तथा हृदयाकर्षण करने वाली साक्षात् वृत्तिता है। कल्हण की कविता वर्णनात्मिका है, परन्तु उसमें पर्याप्त गति है, मनोहरता है और सबसे अधिक है लेखक की स्वतः अनुभूति का अंकन, जो उसमें जीवनशक्ति डालने में सर्वथा समर्थ हुआ है। उसका काव्य बाण तथा बिल्हण के काव्यों के प्रभूत आलंकारिक वैचित्र्य से कहीं अधिक मनोहर और हृदयावर्जक है। तथ्य यह है, कि कल्हण की अपनी एक विशिष्ट शैली है, जिसमें अर्थ की अभिव्यक्ति ही प्रधान लक्ष्य है, घटना का अनुभूतिपूर्ण विवरण ही मुख्य उद्देश्य है।

राजा तारापीड़ के दुष्कर्मों का अन्त हुआ-ब्राह्मणों के ऊपर आक्रमण करने से और अपनी मृत्यु से। इस वर्णन में अग्नि और मेघ का दृष्टान्त बड़ा ही सुन्दर तथा रुचिकर है। यथोक्तम्-

**योऽयं जनापकरणाय श्रयत्युपायं तेनैव तस्य नियमेन भवेद् विनाशः**
**धूपं प्रसौति नयनान्ध्यकरं यमग्निर्भूत्वाम्बुदः स शमयेत् सलिलैस्तमेव।।**

संसार की असारता का निरूपण कवि ने इस पद्य में दिखाया है, कि कोई व्यक्ति दूसरे के अपकार के लिए जिस उपाय की सृष्टि करता है, उसका विनाश उसी उपाय से होता है। अग्नि आँखों को अन्धा करने वाले जिस धूम को उत्पन्न करती है, वही धूम मेघ बन कर जल द्वारा उसी अग्नि को शान्त कर देता है।

इस प्रकार सजीव उपमाओं और दृष्टान्तों से कवि ने अपने कथ्य का समर्थन किया है। कवि ने अलंकारों का प्रयोग सहज और अकृत्रिम रूप से किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, दीपक आदि अर्थालङ्कारों तथा अनुप्रास आदि शब्दालंकारों का गुम्फन स्वाभाविक रूप से उपस्थापित किया है। कश्मीरवर्णन में यह उत्प्रेक्षा कितनी रमणीय है-

**असन्तापाहतिं जानन् यत्र पित्रा विनिर्मिते।**
**गौरवादिव तिग्मांशुर्धत्ते ग्रीष्मेऽप्यतीव्रताम्।।**

पिता कश्यप जी के द्वारा स्थापित किए गए कश्मीरमण्डल को ताप देना उचित नहीं है, मानो यह सोच कर वहाँ ग्रीष्म में भी सूर्य अपनी किरणों में तीखापन नहीं लाते।

**अल्पापकारमपि पार्श्वगतं निहन्ति, नीचो हि दूरगमहागसमप्यरातिम्।**
**श्वा निर्दशत्युपलमन्तिकमापतन्तं तत्त्यागिनं न तु विदूरगमुग्ररोषः।।**

अर्थात् ''वह नीच राजा निकटवर्ती मनुष्य की हत्या, अल्प अपकार करने पर भी कर देता है, जबकि अपने दूरस्थ शत्रुओं के महापराधी होने पर भी कुछ नहीं करता। कुत्ता क्रोध में आकर अपने ऊपर फेंके गये पत्थर को तो दाँत से काटता है, किन्तु उन पत्थरों को फेंकने वालों का कुछ नहीं बिगाड़ता है।'' यहाँ दृष्टान्त देकर काव्य-सौन्दर्य और इतिहास-सत्य का सुन्दर समन्वय कल्हण ने किया है।

अनुष्टुप् छन्द में ही समस्त ग्रन्थ की रचना है, परन्तु स्थान-स्थान पर वसन्ततिलका, हरिणी, शार्दूलविक्रीडित

जैसे बड़े छन्दों का भी प्रयोग रुचिकर तथा शैली को मंजुल बनाने के लिए किया गया है। वैदर्भी रीति के प्रयोग में, स्निग्ध काव्य शैली में कश्मीरी राजाओं का संघर्षमय जीवन चित्रित करने में तथा सामान्य जनता के साथ प्रचुर सहानुभूति दिखलाने में राजतरङ्गिणी भारतीय दृष्टि से आदर्श इतिहास प्रस्तुत करने में समर्थ है। उसकी यही विशेषता भारतीय साहित्य में कल्हण के अपूर्व कर्तृत्व को उपस्थापित करती है।

**रस**

हर्ष की कुटिलता तथा दुष्टता को उन्होंने अपनी आँखों से देखा था। उच्चल तथा सुस्सल के परस्पर संघर्ष एवं मारकाट को। फलतः जगत् के व्यापारों से उन्हें नैसर्गिक उपरति हो गयी थी। वे आद्य इतिहास 'महाभारत' की भांति 'राजतरङ्गिणी' का अङ्गी रस शान्त मानते हैं। कल्हण एक दार्शनिक की भाँति संसार की क्षणभंगुरता पर विचार करते हुए काव्यशास्त्रीय दृढ़ता से शान्त रस की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करते हैं-

**क्षणभङ्गिनी जन्तूनां स्फुरिते परिचिन्तिते।**
**मूर्धाभिषेकः शान्तस्य रसस्यात्र विचार्यताम्।।**

कल्हण को दैव की महिमा पर अटूट विश्वास था, इसलिए उन्होंने विविध सांसारिक घटनाओं में विधाता की इच्छा को कारण माना है और शान्तरस का समर्थन किया है। पुनर्जन्म, कर्मफल, पुण्य-पाप आदि दार्शनिक विषयों में उनकी दृढ़ आस्था थी।

**राजतरङ्गिणी का महत्त्व**

कल्हण की ऐतिहासिक दृष्टि अर्वाचीन इतिहासवेत्ता की शोधक दृष्टि के समान है, जो अपने उपकरणों तथा साधनों को पर्याप्त परीक्षण के अनन्तर ही ग्रहण करती है। समीक्षकों ने कहा है कि क्षेमेन्द्र की 'नृपावली' कवि की रचना होने से रमणीय अवश्य थी, परन्तु अनवधानता के कारण इसका कोई भी अंश दोष विरहित नहीं था-

**केनाप्यनवधानेन कवि-कर्मणि सत्यपि।**
**अंशोऽपि नास्ति निर्दोषः क्षेमेन्द्रस्य नृपावलौ।।**

परन्तु कल्हण खरा निष्पक्ष ऐतिहासिक था। कश्मीरी होने पर भी कल्हण कश्मीरियों की भीरुता तथा मिथ्याभाषण, संग्राम से पलायन-वृत्ति, परस्पर कलह तथा विद्रोह, पक्षपात तथा दुराग्रह, संघर्ष तथा संग्राम, क्षुद्रता

तथा हृदयदौर्बल्य के विवरण देने में कभी नहीं चूकता। ब्राह्मणों के दोषों को बतलाने तथा निकालने में भी वह पराङ्मुख नहीं होता।

'श्रीकण्ठचरितम्' के लेखक मंखक ने कवि की प्रशंसा करते हुए लिखा है, कि कल्हण ने अपने काव्यदर्पण को इतना रमणीय तथा साफ रखा है, कि उसमें बिल्हण की प्रौढ़ोक्ति सद्यः प्रतिबिम्बित होती है-

**तथापचस्करे येन निजवाङ्मयदर्पणः।**
**बिल्हणप्रौढिसंक्रान्तौ यथा योगत्वमग्रहीत्॥**

संक्षेपतः हम कह सकते हैं कि राजतरङ्गिणी का ऐतिहासिक तथ्यों के साथ साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक महत्त्व निष्पक्ष रूप में स्वीकरणीय है।

1 राजतरङ्गिणी, 1/7
2 तत्रैव, 1/4
3 राजतरङ्गिणी, 1/3
4 तत्रैव, 1/46
5 तत्रैव, तरंग-1/289-90
6 राजतरङ्गिणी, 7/1109
7 तत्रैव, 7/110
8 तत्रैव, 7/931
9 राजतरङ्गिणी, तरंग-5/439
10 पंचम तरंग ; उत्पल वंश की स्थापना अवन्तिवर्मा ने की थी। अवन्तिवर्मा का शासन काल 855 से 883 ई. तक था। अन्तिम राजा सूरवर्मन् द्वितीय था। ;पपद्ध द्दिा कश्मीर की प्रथम महिला शासिका थी। वह लोहार वंश की राजकुमारी तथा उत्पल वंश की शासिका रानी थी।
11 राजतरङ्गिणी, 7/316
12 तत्रैव, 1/24
13 तत्रैव, 3/309
14 तत्रैव, 3/515
15 राजतरङ्गिणी, 7/877-78
16 राजतरङ्गिणी, 4/125
17 तत्रैव, 1/41
18 राजतरङ्गिणी, 7/1208
19 तत्रैव 1/23
20 राजतरङ्गिणी, 1/13
21 श्रीकण्ठचरितम्, 25/79

# राधाकृष्ण के अनन्य भक्त नागरीदास

**गोपीनाथ पारीक गोपेश**
अध्यक्ष
राजस्थान आयुर्वेद विज्ञान परिषद्

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति को ईश्वर के प्रति परम प्रेम के रूप में स्वीकार किया है- सात्वस्मिन् परमप्रेम- रूपा "भगवत्परायण जीवन के लिये शुद्ध प्रेमावस्था की प्राप्ति आवश्यक है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य ये भक्ति के पाँच मुख्य भाव कहे गये हैं। इन भावों का विकास ही प्रेम है। श्री रूप गोस्वामी प्रेम के प्रादुर्भाव का क्रम व्यक्त करते हैं - पहले ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है फिर सत्संग में रुचि होती है फिर रस एवं भाव जागृत होते हैं, इसके बाद प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। अभिलाषाओं से मुक्त होकर भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमपूर्वक भक्ति करना ही उत्तम या शुद्ध भक्ति है। ऐसी भक्ति वाले भक्तों का चित्त भगवान् के चरणारविन्दों से पल भर के लिये भी नहीं हटता। वस्तुत: ऐसे भक्त ही वैष्णवों में अग्रगण्य हैं - न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि य: स वैष्णवाग्रय: 'श्रीमद्भागवत ॥-2-53) ( नाभादासजी ने ऐसे भक्तों को भगवान् के ही कह कर वन्दना की है- "भक्तभक्ति भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक। इनके पद वन्दन किये, नासत विघ्न अनेक" जैसे गाय के थन देखने में चार होते हैं, किन्तु चारों के अन्दर एक सरीखा दूध भरा रहता है। इसी प्रकार भक्त, भक्ति, भगवान् और गुरु सभी अभिन्न हैं। भक्त का भगवान् से अनिर्वचनीय प्रेम होता है, अत: उसकी प्रेमा भक्ति भी अनिर्वचनीय ही होती है। यह भक्ति अनुभूतिपरक है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

## तुल्य सिद्धान्तोपपत्ति

वैष्णव आचार्य परम्परा में श्री निम्बार्काचार्य का द्वैता द्वैत सिद्धान्त ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को प्रधान मानता है। जीव, जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध में इनका मत है कि यद्यपि ये तीनों परस्पर भिन्न हैं, तथापि जीव और जगत् का व्यवहार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है, स्वतंत्र नहीं। आपने माना कि संसार ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी। यह भिन्नता और अभिन्नता दोनों ही समान रूप से महत्त्व की है। जैसे कार्यरूप द्वार अपनी कारणरूप मृत्तिका से अभिन्न है, क्यों कि दोनों का मूलतत्व एक ही है। साथ ही ये भिन्न भी हैं क्योंकि दोनों के नाम, रूप, आकार, प्रयोजन आदि भिन्न-भिन्न हैं। वैसे ही कार्यरूप संसार कारणरूप ब्रह्म से भिन्न और अभिन्न हैं। अतः इनका मत द्वैताद्वैतवाद' के नाम से जाना जाता है। इनमें संसार द्वैत है और ब्रह्म अद्वैत है। दोनों मिल कर सत्य हैं।

आचार्य निम्बार्क ने भक्ति में राधाकृष्ण को विशेष महत्व दिया। आपने माधुर्य भक्ति की शिक्षा दी। जीव और ईश्वर के सम्बन्धों में आपने माधुर्य भर दिया। इस माधुर्य हेतु शरणागति को ही प्रमुख साधन कहा। आपने प्रस्थानत्रयी के स्थान पर श्रीमद् भागवत को स्थान देकर प्रस्थान - चतुष्टय को स्वीकार किया।

इसी भक्ति-सम्प्रदाय में दीक्षित भक्त परशुरामदेवाचार्य जी ने मथुरा के नारदटीले पर अपनी तपश्चर्या पूर्ण कर के वि.सं. 1515 में यहाँ मरु प्रदेश में पदार्पण किया और निम्बार्काचार्य पीठ की स्थापना की। सभी समीपस्थ साधु-सन्तों एवं नरेशों का आपको पूरा सहयोग मिला। आपके आदेशानुसार जोधपुर के राज उदयसिंह के द्वितीय पुत्र कृष्णसिंह ने वि.सं 1664 में कृष्णगढ़ राज्य की स्थापना की थी, जो आज किशनगढ़-मदन गंज के नाम से जाना जाता है। इस राज्य की स्थापना के पाँच वर्ष बाद ही परशुरामदेवाचार्य ने जीवित समाधि ले ली थी। इनके थोड़े समय बाद ही राज्यसंस्थापक कृष्णसिंह भी परम धाम जा बसे। इनके निधन के लगभग कई वर्षों बाद इसी राजकुल में भक्त साँवन्तसिंह का जन्म वि.सं. 1756 के पौष कृ० 13 को हुआ। इस समय वृन्दावन में निम्बार्क देवाचार्य जी पीठासीन थे। पाँच वर्ष की अवस्था में ही आपके द्वारा राजकुमार को वैष्णवी दीक्षा प्रदान कर दी गयी। सं01777 में आपका विवाह हुआ। विवाह के पश्चात् आप अपने पिता राजसिंह के राजकार्य में भी सहयोग करने लगे, किन्तु आपका मन कृष्णभक्ति में अधिकतर लगा रहा। गुरु जी के आदेशानुसार आपने सर्वप्रथम 'मनोरथ-मंजरी' की रचना की। इस पुस्तक के अनशीलन से ही आपके वैराग्यरूपी मनोरथ का स्पष्ट पता लग जाता है। आपने लिखा है -

**कब वृन्दावन धरनि में, चरन परेंगे जाय। कोटि हुँ धरि धरि सीस पर, कच्छु मुखट्टू मैं खाय ॥**

**जमुना तट निसि चाँदनी, सुभग पुलिन में जाय। तब एकाकी होय हैं, मौन बदन कर चाय ॥**

आप भक्त होने के साथ ही क्षत्रियोचित शूरवीर भी थे। तेरह वर्ष की अवस्था में ही आपने एक युद्ध में बूंदी के हाड़ा जैतसिंह को मार गिराया था। आपने गुरुदेव की आज्ञा से आचार्यपीठ के सन्निकट आये हुये बर्बरसिंह से मल्लयुद्ध कर उसे मार डाला था। इस पर 'सिंह की शिकार' नामक लम्बी कविता भी लिखी गयी | संवत् 1804 में आप दिल्ली के शाही दरबार में थे ! इसी बीच आपके पिता राजसिंह का सं0 1805 में देहान्त हो गया।

बादशाह अहमदशाह ने आपको दिल्ली में ही कृष्णगढ़ राज्य का उत्तराधिकार प्रदान कर दिया था, किन्तु जब आप कृष्णगढ़ पहुंचे, तो वहाँ देखा, आपके और उनके भाई बहादुरसिंह सोदापुर राजा की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर बैठे थे। इस पर आपने मरहठों से सहायता लेकर अपने राज्य पर अधिकार कर लिया। इस गृहकलह से आपको राज्य के प्रति विरक्ति सी हो गयी। सं. 1505 में आपने लम्बी तीर्थयात्रा की। आपने अधिकांश समय वृन्दावन

में एक विरक्त भक्त की तरह बहुरूपिये के रूप में रह कर बिताया। अपनी उस समय की चित्तवृत्ति का उल्लेख आपने इस प्रकार किया "जहाँ कलह तहं सुख नहीं, कलह सुखन को सूल। सबै कलह इक राख में, राज कलह को मूल॥ कहा भयो नृप हूं भए, दोस्त जग बेकार। लेत न सुख हरिभक्ति को, सकल सुखन को सार॥" यद्यपि यह तीर्थयात्रा पूरी कर आप अपनी राजधानी लौट आये थे, किन्तु आपके चित्त में वैराग्य ने तीव्रता धारण कर ली। आपने इन्हीं वैराग्य के भावों से सम्बन्धित रचनायें कीं। वैराग्यसागर का एक पद्य है - "काहे को रे नाना मत सुनै तू पुरानन के,तै ही कहा? तेरी मूढ गूढ़ गति पंगु की। बेद के विवादनि को पावैगो न पार कहूँ छाँड़ि देहु आस सब दान न्हान गंग की॥ और सिद्ध सोधे अब, नागर न सिद्ध कुछ, मानि लेहु मेरी कही वार्त्ता यह सुद्र की। जाइ ब्रज मेरे ! कोरे मन को रंगाइ लै रे वृंदावन रेनु रची गौर स्याम रंग की॥"

आप भगवान् मुकुन्द के अनन्य शरण हो कर जीवन व्यतीत करना चाहते थे। आप सब कुछ छोड़ कर केवल प्रेमभक्ति के भिखारी बन गये थे "नागर बिहोरि करि जोरि गाँगी तिन पे हैं, देहु प्रेमभक्ति को छुड़ाय विष बासनी" | इस विकलता में ही तीन-चार वर्ष बीत गये | आपने विरक्त वेष धारण करने का निश्चय कर लिया था। उनके दीक्षागुरु वृन्दावन देव जी तो अब धराधाम पर नहीं थे। वे तो सं. 1800 में ही परमधामवासी हो गये थे, उनकी गद्दी पर गोविन्द देवजी आसीन थे, किन्तु वे भी उस समय तो चरनपुर गये हुये थे। अत: आपने वृन्दावनवासी राधाकृष्णोपासक मोहन देवजी से विधिवत् विरक्तवेष लेने का निश्चय किया और अपने पुत्र सरदार सिंह को आश्विन् शुक्ला दशमी वि.सं 1814को राजगद्दी पर बैठा दिया। दूसरे दिन एकादशी को कृष्णगढ़ से वृन्दावन की ओर प्रस्थान किया।

आपके साथ आपकी दासी बनीं बनी ने भी विरक्त वेष धारण कर प्रस्थान किया। वह भी राधाकृष्ण की अनन्य भक्त थी, जो अपनी कविता में रसिकबिहारी की छाप लगाती थी। वैसे तो सावन्तसिंह जी की माता, बहिन (सुन्दरकुमारी), पुत्री (गोपाल कुमारी) और पौत्री (छत्रकुमरी) भी भक्तिभावना से पूर्ण थ्सी। इन सभी ने प्राय: भक्तिपरक कई रचनायें की थीं, किन्तु विरक्त वेष में रहकर वृन्दावन में दासी बनीठनी ने ही भगवान् की आराधना की थी।

वृन्दावन पहुँच कर साँवन्तसिंह जी ने यमुना तट पर मोहनदासजी से विरक्त वेष लिया और कृष्ण भक्ति में तल्लीन हो गये। पहले जो आप श्री वृन्दावन' नाम से अपने पूर्व दीक्षागुरु की वन्दना करते थे, अब 'श्री मोहन गुरु बन्दों' नाम से गुरु वन्दना करने लगे। ऐसी वन्दना के कई पद आपके मिलते हैं। अब आप सांवन्तसिंह न रह कर भक्त नागरीदास हो गये थे। आपने स्वयं लिखा है, कि पहले जो कई सन्त राजा के नाम से मिलने में संकोच करते थे, वे अब नागरीदास का नाम सुन कर सन्तों के समूह के समूह मिलने को आने लगे।

**समागत**

"सुनि व्योहारिक नाम कौ, ठाढ़े दूर उदास। देखि मिले भर नैन सुनि, नाम नागरीदास ॥" वृन्दावन में रह कर आपने सन्तों के सम्मानार्थ एक आश्रम तथा एक क्षेत्र स्थापित किया, जो नागरीदास जी का घेरा और नागरीदास जी के क्षेत्र के नाम से विख्यात हुआ।

विरक्त होने से पहले ही आपने कृष्णभक्ति और रासलीला से सम्बन्धित बहुत सी पुस्तकों की रचना कर डाली थी। मनोरथमंजरी के अतिरिक्त आपकी अनेक कृतियाँ प्रसिद्ध हैं, रसिकरत्नावली, विहारचन्द्रिका, निकुंजविलास, व्रजयात्रा, भक्तिसार, कलिवैराग्यवल्लरी, गोपीप्रेमप्रकाश, भक्तिमार्गमगदीपिका, युगलभक्तिविनोद, वनविनोद, सुजनानबन्द, व्रजवैकुण्ठतुला, फागविहार, बालविनोद और वनजनप्रशंसा आदि। आपके विषय में रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है 'ये भक्त कवियों में बहुत ही प्रखर कृति छोड़ गये हैं। इनका कविता काल सं. 1786 से 1819 तक माना जा सकता है। ये भक्त थे और साहित्यरचना की नवीनता आदि से कोई प्रयोजन नहीं रखते थे, फिर भी इनकी शैली और भावों में बहुत कुछ नवीनता और विशिष्टता है।

आपने वर्षा से सम्बन्धित एक छन्द बहुत उत्तम रचा है, जो स्मरण रखने योग्य है-"भादौं की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मंद पुही बरसावै। स्यामा जु आपनि ऊँची अटा पै छकी इस रीति मल्हारहि गावै॥ वा सब मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै। पौन भयंकर घूंघट टारे चाकरि दामिनि दीप दिखावै"। कृष्ण गढ़ में रह कर वृन्दावनवास की उत्कट लालसा के जो भाव उनके मन में उमड़ते थे, 'ब्रज में लै लै कढ़त दिन, किते दिये लै खोय। अबकै अबकै कहत ही, वह अबकै कब होय॥ आपके वे भाव वृन्दावन में रहकर साकार हुए और वैराग्य वेष धारण कर कृष्णभक्तों में नागरीदासजी का नाम अमर हो गया। वृन्दावन में ही सं0 1821 में आपकी भौतिक काया व्रजरज में विलीन हो गयी। नागरीदास जी के शरीर त्यागने के कुछ समय पश्चात् ही अर्थात् सं 1829 में उनकी भक्त दासी रसिकलहरी (बनीठणी) ने भी परम धाम की प्राप्ति की। नागरीदासजी की समाधि के निकट ही इनका स्मृतिचिह्न बना हुआ है।

# स्वस्थ जीवन का आधार योग

**डॉ. मनीषा शर्मा**
प्राचार्य
राजस्थान शिक्षक प्रशिक्षण विद्यापीठ, जयपुर

**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥**

योग स्वस्थ जीवन जीने की एक कला और विज्ञान है। 'योग' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत धातु 'युज' से हुई है, जिसका अर्थ है 'जोड़ना' या 'जोड़ना' या 'एकजुट होना'। यौगिक ग्रंथों के अनुसार योग के अभ्यास से व्यक्तिगत चेतना का सार्वभौमिक चेतना के साथ मिलन होता है, जो मन और शरीर, मनुष्य और प्रकृति के बीच पूर्ण सामंजस्य का संकेत देता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार, ब्रह्मांड में सब कुछ एक ही क्वांटम फार्मेट की अभिव्यक्ति मात्र है। जो व्यक्ति अस्तित्व की इस एकता का अनुभव करता है, उसे योग में कहा जाता है, और उसे योगी कहा जाता है, जिसने मुक्ति, निर्वाण या मोक्ष नामक स्वतंत्रता की स्थिति प्राप्त कर ली है। इस प्रकार योग का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार है, 'मुक्ति की स्थिति' (मोक्ष) या 'स्वतंत्रता' (कैवल्य) की ओर ले जाने वाले सभी प्रकार के कष्टों पर नियंत्रण पाने के लिए। जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वतंत्रता के साथ रहना, स्वास्थ्य और सद्भाव योग अभ्यास का मुख्य उद्देश्य होगा। "योग" एक आंतरिक विज्ञान को भी संदर्भित करता है, जिसमें विभिन्न तरीकों का समावेश है, जिसके माध्यम से मनुष्य इस मिलन का एहसास कर सकते हैं और अपने भाग्य पर सफलता पा सकते हैं। योग, जिसे व्यापक रूप से 2700 ईसा पूर्व की सिंधु सरस्वती घाटी सभ्यता का 'अमर सांस्कृतिक परिणाम' माना जाता है, ने मानवता के भौतिक और आध्यात्मिक उत्थान दोनों में खुद को हेतु सिद्ध किया है। बुनियादी मानवीय मूल्य योग साधना की पहचान हैं।

**योग का संक्षिप्त इतिहास और विकास-**

योग का अभ्यास सभ्यता की शुरुआत से ही शुरू हो गया था। योगविज्ञान की उत्पत्ति हजारों साल पहले हुई थी, पहले धर्मों या विश्वास-प्रणालियों के जन्म से बहुत पहले। योग विद्या में, शिव को पहले योगी या आदियोगी और पहले गुरु या आदिगुरु के रूप में देखा जाता है।

कई हजार साल पहले, हिमालय में कांतिसरोवर झील के तट पर, आदियोगी ने अपना गहन ज्ञान पौराणिक सप्तऋषियों या "सात ऋषियों" में डाला। ऋषियों ने इस शक्तिशाली योगविज्ञान को एशिया, मध्य एशिया सहित दुनिया

के विभिन्न हिस्सों में पहुंचाया। पूर्वी, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका। दिलचस्प बात यह है कि आधुनिक विद्वानों ने दुनिया भर में प्राचीन संस्कृतियों के बीच पाए जाने वाली गहन समानताओं पर गौर किया है और आश्चर्यचकित हैं। यद्यपि, भारत में योग प्रणाली को अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति मिली। अगस्त्य आदि सप्तऋषि जिन्होंने यात्रा की थी भारतीय उपमहाद्वीप ने इस संस्कृति को उन्हीं की मूल यौगिक जीवनशैली के आधार पर तैयार किया।

सरस्वती घाटी सभ्यता की मुहरों और जीवाश्म अवशेषों की संख्या प्राचीन भारत में योग की उपस्थिति का प्रमाण देती है। देवी माँ की मूर्तियों के चिह्न, मुहरें तंत्र-योग के सूचक हैं। योग की उपस्थिति लोक परंपराओं, सिंधु घाटी सभ्यता, वैदिक और उपनिषदिक विरासत, बौद्ध और जैन परंपराओं, दर्शन, महाभारत और रामायण के महाकाव्यों, शैवों की आस्तिक परंपराओं, वैष्णवों और तांत्रिक परंपराओं में उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त, एक आदिम या शुद्ध योग भी था जो दक्षिण एशिया की रहस्यमय परंपराओं में प्रकट हुआ। यह वह समय था जब योग का अभ्यास गुरु के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन में किया जाता था और इसके आध्यात्मिक मूल्य को विशेष महत्व दिया जाता था। यह उपासना का एक हिस्सा था और योगसाधना उनके अनुष्ठानों में अंतर्निहित थी। वैदिक काल में सूर्य को सर्वाधिक महत्व दिया गया था। इसी प्रभाव के कारण 'सूर्य नमस्कार' की प्रथा का आविष्कार बाद में हुआ होगा। प्राणायाम दैनिक अनुष्ठान और आहुति देने का एक हिस्सा था। यद्यपि योग का अभ्यास पूर्व-वैदिक काल में किया जा रहा था, महान् ऋषि महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्रों के माध्यम से योग की तत्कालीन प्रथाओं, इसके अर्थ और इससे संबंधित ज्ञान को व्यवस्थित और संहिताबद्ध किया। पतंजलि के बाद, कई संतों और योगगुरुओं ने अपनी अच्छी तरह से प्रलेखित प्रथाओं और योग साहित्य के माध्यम से इस क्षेत्र के संरक्षण और विकास के लिए बहुत योगदान दिया।

**स्वास्थ्य और कल्याण के लिए योगाभ्यास**

व्यापक रूप से प्रचलित योगसाधना (अभ्यास) हैं: यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान (ध्यान), समाधि / संयम, बंध और मुद्रा, षट-कर्म, युक्ताहार, युक्तकर्म, मंत्रजप आदि। यम और नियम योग साधनाओं के लिए पूर्व-आवश्यकता माने जाते हैं। आसन, शरीर और मन की स्थिरता लाने में सक्षम 'कुर्यात्-तद्-आसनम-स्थैर्यम्...', इसमें विभिन्न शारीरिक (मनो-शारीरिक) प्रारूप को अपनाना समाहित है, जो शरीर की स्थिति (किसी भी संरचनात्मक के बारे में स्थिर जागरूकता) को बनाए रखने की क्षमता प्रदान करता है।

**साधना के मूल सिद्धांत**

योग व्यक्ति के शरीर, मन, भावना और ऊर्जा के स्तर पर काम करता है। इसने योग के चार व्यापक वर्गीकरणों को जन्म दिया है: कर्मयोग, जहां हम शरीर का उपयोग करते हैं; भक्ति योग, जहां हम भावनाओं का उपयोग करते

हैं; ज्ञानयोग, जहां हम मन और बुद्धि का उपयोग करते हैं; और क्रियायोग, जहां हम ऊर्जा का उपयोग करते हैं।

योग की प्रत्येक प्रणाली जिसका हम अभ्यास करते हैं, वह इनमें से एक या अधिक श्रेणियों के दायरे में आएगी। प्रत्येक व्यक्ति इन चार कारकों का एक अद्वितीय संयोजन है। "योग पर सभी प्राचीन टिप्पणियों में इस बात पर जोर दिया गया है, कि गुरु के निर्देशन में काम करना आवश्यक है।" इसका कारण यह है कि केवल एक गुरु ही चार मूलभूत मार्गों का उचित संयोजन कर सकता है, जैसा कि प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक है। योगशिक्षा परंपरागत रूप से, परिवारों में जानकार, अनुभवी और बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा प्रदान की जाती थी। योग शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के 'अस्तित्व' की देखभाल करना है। यह मान लिया गया कि एक अच्छा, संतुलित, एकीकृत, सच्चा, स्वच्छ, पारदर्शी व्यक्ति योग के कारण स्वयं, परिवार, समाज, राष्ट्र, प्रकृति और समग्र मानवता के लिए अधिक उपयोगी होगा। योग शिक्षा 'प्राच्य परम्परागत' है। विभिन्न जीवित परंपराओं और ग्रंथों में 'उन्मुख होने' के पहलू के साथ काम करने का विवरण रेखांकित किया गया है और इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में योगदान देने वाली विधि को 'योग' के रूप में जाना जाता है।

वर्तमान समय में, योगशिक्षा कई प्रतिष्ठित योगसंस्थानों, योगमहाविद्यालयों, योगविश्वविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में योगविभागों, प्राकृतिक चिकित्सा महाविद्यालयों और निजी ट्रस्टों तथा समाजों द्वारा प्रदान की जा रही है। अस्पतालों, औषधालयों, चिकित्सा-संस्थानों और चिकित्सीय प्रतिष्ठानों में कई योग क्लिनिक, योगथेरेपी और प्रशिक्षण केंद्र, योग की निवारक स्वास्थ्य देखभाल इकाइयां एवं योग अनुसंधान केंद्र आदि स्थापित किए गए हैं।

योग की भूमि भारत में विभिन्न सामाजिक रीति-रिवाज, पारिस्थितिकीय संतुलन के प्रति प्रेम, विचार की अन्य प्रणालियों के प्रति सहिष्णुता और सभी रचनाओं के प्रति दयालु दृष्टिकोण को दर्शाते हैं। सभी रंगों और रंगों की योग साधना को सार्थक जीवन और जीने के लिए रामबाण माना जाता है। व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों तरह के व्यापक स्वास्थ्य की ओर इसका उन्मुखीकरण, इसे सभी धर्मों, नस्लों और राष्ट्रीयताओं के लोगों के लिए एक योग्य अभ्यास बनाता है।

# राष्ट्रोपनिषत्

रचयिता
**स्व. आचार्य डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर विद्यालङ्कारः**
(महामहिम-राष्ट्रपति-सम्मानित)

हिन्दी-रूपान्तरण-कर्त्री
**सौ. श्रीमती इन्दु शर्मा**
एम.ए., शिक्षाचार्या

अंग्रेजी-रूपान्तरण-कर्त्ता
**महामण्डलेश्वरः स्वामी श्री ज्ञानेश्वरपुरी**
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थानम्, जयपुरम्

**कृतस्य क्रियामाणस्य, यः फलं नैव पश्यति ।**
**स तेन नितरां दुःखी, भूत्वा शीघ्रं विपद्यते ॥१४३॥**

जो अपने किये गये और किये जाते हुए कार्य का फल नहीं देखता है, वह उससे बहुत दुःखी होकर शीघ्र ही मर जाता है ।

The one who does not see the effects/fruits of his past and current work quickly dies out of unhappiness. (or just unhappy)

**कृते च प्रतिकर्त्तव्यम्, एष धर्मः सनातनः ।**
**अस्योल्लङ्घनकर्ता तु, साफल्यं लभते नहि ॥१४४॥**

उपकार करने वाले का प्रत्युपकार करना चाहिये, यह सनातन धर्म है । परन्तु इसका उल्लङ्घन करने वाला तो सफलता प्राप्त नहीं करता ।

It is the eternal truth that one should help back those who help him. But the one cannot be successful who violates that.

**कृतो यो निश्चयः पूर्वं, तदाचारः प्रशस्यते ।**
**निश्चितं टलनं नूनं, किं वाच्यताकरं नहि ? ॥१४५॥**

जो पहले निश्चय कर लिया गया, उसके अनुसार आचरण करना ही प्रशंसनीय होता है । निश्चय से टल जाना क्या निन्दाकारी नहीं होता ?

It is praiseworthy/admirable to follow up and fulfil the commitment. Isn't the one who avoids the commitment blameworthy/disgraceful?

**केवलं कार्यकालोऽस्ति, बाल्येन सह यौवनम् ।**
**अत्राभिनन्दिता व्यक्तिः, श्रेष्ठं कार्यं करोति हि ॥१४६॥**

काम करने का समय केवल बाल्यावस्था के साथ युवावस्था होती है । इस समय अभिनन्दित किया हुआ व्यक्ति निश्चितरूप से श्रेष्ठ काम करता है ।

For work, there is only childhood and young age. The person who is praised at that age surely does great work.

**क्रोधः शत्रुर्मनुष्यस्य, जेतुं शक्यः कदापि न ।**
**तस्मिन् जिते जितं किं न ?, सर्वमेव जितं ननु ॥१४७॥**

मनुष्य का शत्रु क्रोध होता है, जो कभी जीता नहीं जा सकता । उस क्रोधरूपी शत्रु को जीत लेने पर क्या नहीं जीत लिया जाता ? सब कुछ ही निश्चितरूप से जीता हुआ हो जाता है ।

Anger is the enemy of man. It can never be defeated. What cannot be won by defeating the enemy in the shape of anger? Surely then everything can be achieved.

**क्षणभङ्गुर – देहेन, शुभं कार्यं व्यधत्त यः ।**
**स्मृतिमात्रावशिष्टोऽपि, चिरमत्र स जीवति ॥१४८॥**

जिसने अपने क्षणभङ्गुर शरीर से शुभकर्म कर लिया, केवल स्मृति का पात्र बना हुआ भी वह इस लोक में यहाँ चिरञ्जीवी रहता है ।

The one who deed good deeds in this mortal body is worth remembering and through it achieves immortality in this world.

**खाद्यं पेयं यदा नैव, शरीरं किं तदा स्थिरम् ? ।**
**पुनर् विना शरीरं च, वृथा हि विश्ववैभवम् ॥१४९॥**

जब खाद्य पेय पदार्थ न हो, तो क्या शरीर स्थिर रह सकता है ? और फिर शरीर के बिना तो विश्व की वैभवता व्यर्थ है ।

Is it possible for the body to be still if there is nothing to eat and drink? Without the body all glory of the world is useless.

**गणेशो गणतन्त्रे चेत्, पूज्यते नैव सादरम् ।**
**कीदृशं गणतन्त्रं तद्, विचार्येदं निगद्यताम् ॥१५०॥**

यदि गणतन्त्र में गणेश जी की सादर पूजा नहीं की जाती है तो वह कैसा गणतन्त्र है ? यह विचार कर बताओ ।

Which kind of republic is that where Ganesh is not worshiped with respect? Do think and tell.

**गीतां रामायणं नित्यं, योऽधीत्यापि न जीवने ।**
**उत्तारयति ततः कोऽन्यो, मन्दभाग्यो भविष्यति ? ॥१५१॥**

जो नित्य गीता और रामायण का स्वाध्याय करके भी उनकी शिक्षा को अपने जीवन में नहीं उतारता है, उससे ज्यादा मन्दभागी कौन होगा ?

Who can be more ill fated than the one who constantly studies Gita and Ramayana but does not use that knowledge in the life?

**गुणानां निन्दका नैके, विरला वै प्रशंसकाः ।**
**निन्दया प्रचुरा हानिः, प्रशंसा लाभदा सदा ॥१५२॥**

गुणों की निन्दा करने वाले अनेक हैं, किन्तु प्रशंसा करने वाले तो विरल ही हैं । निन्दा से बहुत हानि होती है । प्रशंसा तो सदा लाभ ही देने वाली है ।

There are many people who condemn virtues and rare are those who glorify them. Many problems are created by condemnation but praising always brings prosperity.

**गुणानां गुणवेत्तारो, विरला एव केचन ।**
**ये तान् सम्पूज्य सम्मान्य, यशोऽर्जन्ति स्वयं महत् ॥१५३॥**

गुणवानों के गुणों को जानने वाले तो कोई विरल ही होते हैं । जो उन गुणवानों का पूजन-सम्मान करके स्वयं महान् यश अर्जित कर लिया करते हैं ।

Rare are those who know the virtues of virtuous people. They who show them respect and worship them earn a great fame.

ISSN : 2582-6360

प्रकाशक : विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान - कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

**Website :** vgda.in **Youtube :** www.youtube.com/c/vishwagurudeepashram **E-mail :** jaipur@yogaindailylife.org